* ओ३म् *

पिण्डपितृयज्ञ

पं० तुलसीराम स्वामी का लेखबद्ध

५ वां व्याख्यान

जिस में यजुर्वेदसंहिता, उसी का शतपथब्राह्मण, उसी का कात्यायन श्रौतसूत्र और उसी प्रकरण के मीमांसादर्शन का अधिकरण पूरा प्रकरण दिखलाया है कि पिण्डपितृयज्ञ मृतकोद्दिष्ट नहीं है। आरम्भ में यम और पितरों का व्याख्यान निरुक्त और वेद से स्पष्ट किया है॥

मेरठ

स्वामी मेशीन यन्त्रालय मे मुद्रित

Pinter and Publisher by P. Tulsiram Swami
At the Swami Press Meerut

तीसरी वार १०००] पौष १९७१ विक्रमी [मूल्य ।)

डा० भवानीलाल भारतीय
संख्या...व.३६०८...
तिथि.....
पुस्तकालय.....
डा० भवानी लाल भारतीय
पुस्तकालय
संख्या...३६०८...
दिनांक.....
7631

ओ३म्

पिण्डपितृयज्ञ

पितृयज्ञ भी एक यज्ञ है, इस लिये प्रथम यह विचार चलाते हैं कि यज्ञ का अधिकार मनुष्य को ही है वा अन्य प्राणियों को भी। इस विषय में मीमांसादर्शन के दो अधिकरण लिखे हैं, एक में मनुष्ययोनिमात्र को अधिकार दिखावेंगे, दूसरे में स्त्री पुरुष दोनों का अधिकार दिखाया जायगा। यथा—

यज्ञादि में मनुष्य ही का अधिकार है—

फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारंस्यात्।

मी० ६।१।४

(शबरभाष्यम्) इदमामनन्ति-"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामोयजेत। ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्येवमादि। तत्र सन्देहः-किं यावत्किञ्चित्सत्त्वं तत्सर्वमधिकृत्यैतदुच्यते, उत समर्थमधिकृत्येति। किं प्राप्तम्? सर्वाधिकारः, अविशेषात्। ननु वृक्षादयोन किञ्चित्कामयन्ते, कथं तेषामधिकारःस्यात्? उच्यते-माभूदऽचेतनानां,

तिरश्चस्त्वऽधिकृत्य-"यजेत" इति ब्रूयात् । ननु तिर्यञ्चोऽपि न किञ्चित्कामयन्ते । नेति ब्रूमः । कामयन्ते सुखमेवं हि दृश्यते-घर्मोपतप्ताश्छायामुपसर्पन्ति, शीतेन पीडिता आतपम् । आह-ननु तिर्यञ्च आसन्नं फलं चेतयन्ते, न कालान्तरफलं कामयन्ते, कालान्तरफलानि च वैदिकानि कर्माणि? उच्यते-कालान्तरेऽपि फलं कामयमाना लक्ष्यन्ते-शुनश्चतुर्दश्यामुपवसतः पश्यामः, श्येनांश्चाष्टम्याम् । न चैषां व्याध्याशङ्का, नियतनिमित्तत्वात् नानाहाराणामपि तस्मिन्काले दर्शनात्, समानाहाराणामप्यन्यस्मिन्काले ऽदर्शनात ॥

अर्थात् यह पूर्वपक्ष वा शङ्का की जाती है कि केवल मनुष्य ही को यज्ञादि कर्माधिकार नहीं किन्तु पशु पक्षी आदि को भी यज्ञाधिकार हो सकता है । क्योंकि जिन विधिवाक्यों (दर्शपू०) में यजन की विधि है, उन में केवल यह कहा है कि "स्वर्ग की कामना करने वाला दर्श पूर्णमास और ज्योतिष्टोम से देवयजन करे" क्योंकि इस वाक्य में यह विशेष नहीं लिखा कि "मनुष्य" देवयज्ञ करे । इस लिये प्राणिमात्र का अधिकार समझ सकते हैं ? न कि केवल मनुष्य का । यदि यह शङ्का करो कि वृक्षादि

जड़पदार्थ कामना ही नहीं करते फिर उन का अधिकार कैसा ? तो पूर्वपक्ष वाला कहता है कि अच्छा, अचेतन वृक्षादि का अधिकार न सही, तिर्यग्योनि पशु पक्षी आदि को तो अधिकार है ? यदि कहा जावे कि पशु आदि भी कामना नहीं रखते, सो नहीं है, वे भी सुख चाहते हैं। यह देखा जाता है कि धूप के दुःख से बचने को छाया में और शीतपीड़ा से बचने को धूप में जा बैठते हैं। यदि कहा जावे कि पशु आदि समीपस्थ फल को चाहते हैं, दूरस्थ वा कालान्तर में मिलने वाले फलों को नहीं। परन्तु वैदिक कर्मों का फल कालान्तर और जन्मान्तर तक दूर है ? इस का उत्तर पूर्वपक्षी देता है कि कालान्तर के फल की कामना भी पशुआदि में देखी जाती है। हम देखते हैं कि कुत्ते चतुर्दशी और श्येन (बाज़) अष्टमी तिथि में उपवास करते हैं, कुछ नहीं खाते पीते। यह भी शङ्का नहीं हो सकती कि उन तिथियों में उन्हें कोई रोग होता होगा, क्योंकि रोग का मूल आहार है, आहार उन्हें सदा ही नानाप्रकार के मिलते रहते हैं, उन्हीं आहारों के खाने से अन्य तिथियों में रोग क्यों नहीं होता ॥

यहां तक पूर्वपक्ष हुवा। इस में केवल हम को यह अच्छा और ठीक नहीं जान पड़ता कि कुत्ते चतुर्दशी में उपवास करते हैं। भाष्यकार की भाष्यकार जाने परन्तु हमने इस भाष्य को पढ़ कर कईबार चतुर्दशी के दिन कुत्तों को रोटी दी और उन्हों ने खा ली। हां कदाचित् किसी कुत्ते वा किसी श्येन ने रोगवश भाष्यकार के सामने

उपवास किया हो। इस लिये यदि कालान्तर में मिलने वाले सुख की इच्छा पशुआदि में दिखलानी थी तौ दिन भर जङ्गल में चर कर सायंकाल को देर में प्राप्त होने वाले स्थान सुख की कामना से सायंकाल से पहले ही मकान की ओर को चलने लगना इत्यादि व्यवहार भी पूर्वपक्ष का समर्थन कर सकते थे । अस्तु, जो हो, उत्तरपक्ष सुनियेः-

कर्त्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कात्स्न्र्येन गम्यते । मी० ६ । १ । ५

"वा" शब्द पूर्वपक्ष के खण्डन में है। यह ठीक नहीं है कि पशुआदि को यज्ञादि कर्माधिकार है। किन्तु जो कर्म को साङ्गोपाङ्ग कर सके उस को अधिकार है । पशु आदि विधिपूर्वक कर्म करने में असमर्थ हैं, इस लिये उन्हें सुख की इच्छा से भी वैदिक कर्म करने का अधिकार नहीं। जो जिस कर्म को न कर सके उसे उस का अधिकार कैसे समझा जावे। और पशुआदि कालान्तर के फल की कामना भी नहीं करते। पूर्वपक्ष में जो कुत्तों और श्येनों के उपवास का दृष्टान्त था, वह भी ठीक नहीं क्योंकि यदि मान भी लिया जावे कि वे उपवास करते हैं, तौ जन्मान्तर में फल मिलने की कामना से नहीं करते। यदि कहो कि तुम ने कैसे जाना कि पशु आदि जन्मान्तर में सुख की कामना नहीं करते। तौ उत्तर यह है कि वेद पढ़े विना यह ज्ञान नहीं हो सकता कि यहां के कर्म का जन्मान्तर में फल होगा और पशु आदि वेदाध्ययन नहीं करते । इस से हम जानते हैं कि वे

जन्मान्तर के फल की कामना नहीं करते। पशु तो पशु, मनुष्यों में भी बड़े कठिन से कोई पूर्ण वेद पर श्रद्धा रखने वाला ही जन्मान्तर में फल की कामना से कर्म करता है। जब कि पशुआदि वेद वा स्मृति नहीं पढ़े तो वे धर्मशास्त्र में लिखे अनुष्ठान कैसे कर सकते हैं। इस लिये यदि कुत्तों और श्येनों का उपवास मान भी लिया जावे तो धर्मार्थ नहीं। तो फिर किस कारण वे उपवास करते हैं? उत्तर—रोग से उन को अन्न में अरुचि होती है। रोग नियत काल १४ वा ८ में ही क्यों होता है? उत्तर—बहुत से रोग नियतकाल में भी होते हैं—जैसे तेइया चौथेइया ज्वर तीसरे वा चौथे दिन में ही होता है। इस लिये मनुष्यों ही को यागाधिकार है॥

पशु आदि के पास यज्ञ के द्रव्य भी नहीं हैं, इस लिये विना द्रव्य के भी वे यज्ञ करने को असमर्थ हैं। जो हस्तिग्राम वा पशुग्राम इत्यादि शब्दों से कोई शङ्का करे कि हाथी वा पशु का ग्राम होता है, इस लिये पशु भी द्रव्य वाले हैं। सो ठीक नहीं, क्योंकि हस्तिग्राम वा पशुग्राम का यह तात्पर्य नहीं कि हाथी वा पशु ग्राम के स्वामी समझे जावें। किन्तु उपचार मात्र है। जिस ग्राम में हाथी वा पशु अधिक रहते हैं उस ग्राम को उन नामों से बोलते हैं। इस से पशु द्रव्य वाले भी नहीं। और जो कहीं २ ऐसे वचन पाये जाते हैं कि "वनस्पति भी यज्ञ करते हैं" इत्यादि। वे वचन मनुष्यों को ही यज्ञ की अवश्यकर्त्तव्यता का बोध कराने के लिये हैं कि देखो जब जड़ वनस्पति भी अपने पत्र, पुष्प, फल

से परोपकाररूप यज्ञ करते हैं तो कैसे शोक की बात हो कि मनुष्य स्वार्थी बन जावे और परोपकारार्थ विधि-पूर्वक यज्ञ न करे ॥

यज्ञ में स्त्री और पुरुष दोनों का अधिकार है—

अब इस अधिकरण पर विचार करते हैं। इस में पूर्वपक्ष—

लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः ।

मी० ६ । १ । ६ ॥

" स्वर्ग की कामना करने ' वाला , दर्श पूर्णमास और ज्योतिष्टोम से देवयजन करे" इन वाक्यों में पुल्लिङ्ग निर्देश होने से ' ऐतिशायन , की यह शङ्का है कि पुरुष को ही अधिकार है । स्त्री को अधिकार तब समझा जाता, जब कि—स्वर्ग की कामना करने " वाली " ऐसा स्त्रीलिङ्ग निर्देश भी होता ॥

पूर्वपक्ष की पुष्टि में ही अगला सूत्र भी है । यथा—

तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ।

मी० ६ । १ । ७ ॥

जिन शास्त्रों ने यह लिखा है कि—अविज्ञातगर्भ की हत्या करने वाला ' भ्रूणहत्यारा , कहाता है, क्योंकि कदाचित् गर्भ से पुत्र (पुरुष) उत्पन्न हो और वह दोनों लोकों का उपकारक हो, इस लिये जिस गर्भ के विषय में यह नहीं जाना गया कि पुत्रगर्भ है वा पुत्रीगर्भ, उस के हनन करने वाला अत्यन्त पापी और यज्ञ की हत्या करने वाला हुवा, क्योंकि सम्भव है कि पुत्र उत्पन्न होता, न मारा जाता तो यज्ञ करता, इस से जाना

जाता है कि वह शास्त्रकार पुरुष को ही यज्ञ करने का अधिकारी मानते हैं। यदि स्त्री पुरुष दोनों को अधिकारी जानते तो " अविज्ञात " गर्भहत्या ही को भ्रूणहत्या वा यज्ञहत्या न कहते, किन्तु " विज्ञात " अर्थात् पुत्रगर्भ वा पुत्रीगर्भ इन दोनों में से किसी एक का ज्ञान होजाने पर की हुई हत्या को भी भ्रूणहत्या वा यज्ञहत्या कहते। इससे भी यज्ञ में पुरुष ही के अधिकार का संशय पुष्ट होता है॥ अब सिद्धान्त पक्ष कहते हैं—

जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्, तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत, जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्।

मी० ६। १। ८॥

बादरायण कहते हैं कि इन वाक्यों में यद्यपि पुंल्लिङ्ग ग्रहण है परन्तु मनुष्यजाति का ग्रहण है, न केवल पुरुष ही का। पुंल्लिङ्ग अविवक्षित है अर्थात् वक्ता का तात्पर्य लिङ्गविशेष से नहीं है। यूं तो कोई एक लिङ्ग चाहे पुंल्लिङ्ग, चाहे स्त्रीलिङ्ग कहना ही पड़ता। परन्तु वक्ता का तात्पर्य यही है कि " जो स्वर्ग की कामना करे " चाहे स्त्री, चाहे पुरुष, उसी को यज्ञाधिकार है। इस लिये मनुष्यजाति में स्त्री और पुरुष दोनों ही आजाते हैं, कोई विशेष नहीं, इस कारण स्त्री को भी यज्ञाधिकार प्रतीत करना चाहिये। यद्यपि यहां जातिवाचक कोई शब्द हम भी नहीं बताते, परन्तु 'स्वर्गकाम, शब्द ऐसा है जो लक्षण बताता है कि " जिस की स्वर्गप्राप्ति की कामना हो" इस में यह नहीं समझा जाता कि स्त्री की स्वर्गकामना न हो। तो क्या पुंल्लिङ्ग निर्देश व्यर्थ है? नहीं,

व्यर्थ नहीं। उस का प्रयोजन शब्दार्थ का निर्देश (बताना) ही है, किन्तु स्त्री वा पुरुष का निर्देश नहीं॥ यदि कहो कि भ्रूणहत्या वाली शङ्का का उत्तर नहीं हुवा, तो सुनिये–

चोदितत्वाद्यथाश्रुति । मी० ६ । १ । ९ ॥

जैसा शास्त्र ने उपदेश किया है, वैसा ठीक है। उस का अभिप्राय यह नहीं है कि विना जाने गर्भ की हत्या ही भ्रूणहत्या है वा यज्ञहत्या है। किन्तु जाने हुवे गर्भ को हत्या भी वैसी ही है। फिर "अविज्ञात"=विना जाने का ग्रहण क्यों किया? इस लिये कि विना जाने गर्भ की हत्या से भी पाप लगता है। इस से अधिक वहां वक्ता का तात्पर्य नहीं है। इस लिये यज्ञादि में स्त्री पुरुष दोनों का अधिकार है॥

आगे यम का विचार करते हैं:-

यम को पितरों का राजा कहा जाता है। इस से पाया जाता है कि यम और पितर एक जाति हैं, जैसे मनुष्यों का राजा मनुष्य और वन्य मृगों का राजा मृगराज सिंह कहाता है। इस लिये हम प्रथम "यम" का विचार चलाकर यह दिखायेंगे कि पितृगणों सहित यम कोई प्राणी नहीं है किन्तु एक वायुविशेष है॥

जब से हमारे देश में पुराणों की असंभव कथाओं की रचना हुई तब से अनेक मिथ्या विश्वास जिस प्रकार उत्पन्न हुवे, उसी प्रकार यम के विषय में भी मिथ्या विश्वास फैल रहा है कि यम एक चेतन देवता है, जिस का स्थान यमपुरी में है और जिस का स्वरूप ऐसा है कि–

त्रिंशद्योजनदीर्घाङ्गो वापीसदृशलोचनः ।
धूम्रवर्णोमहातेजाः प्रलयाम्भोधरध्वनिः॥
तृणाधिराजलोमा च ज्वलदग्निशिखाग्रवत्।

नासारन्ध्रस्फुरच्छ्वासस्वनैर्जितमहानिलः॥
सुदीर्घदशनश्रेणिः शूर्पोपमनखावलिः ।
प्रचण्डमहिषारूढ सन्दष्टदशनच्छदः ॥
दण्डहस्तश्चर्मवासा भ्रुकुटीकुटिलाननः ।

पद्मपुराणन्तर्गत क्रियायोगसार

२२ वां अध्याय

अर्थात् ३० योजन लम्बे देह वाला, बावड़ी से नेत्र, धूम्रवर्ण, महातेज, प्रलय के बादल के सी गर्ज, तृणराज (तालपत्र) से रोम, जलते अग्नि की लपट के तुल्य नासिका के छिद्रों से निकलते श्वास के शब्द द्वारा आंधी को जीतने वाला, लम्बे दान्त, छाज से नख, प्रचण्ड भैंसे पर चढ़ा, दांत कटकटाता, दण्डा हाथ में, चमड़ा ओढ़े और भौंह चढ़ाये; इत्यादि लक्षणों वाला यम है ॥

वे पुराणप्रणेता यह भी बताते हैं कि यह बुरा स्वरूप केवल कुकर्मियों के लिये है, किन्तु जब धर्मात्मा मरते हैं तौ वे तौ यम के अधिकार से ही बाहर रहते हैं, परन्तु यदि कभी वे अपनी इच्छा से यम को देखना चाहते हैं तौ यमराज दूसरा शान्त स्वरूप धारण कर लेता है। जैसा कि उसी ग्रन्थ में लिखा है:—

तानागतांस्ततो दृष्ट्वा नरान्धर्मपरायणान् ।
भास्करिः प्रीतिमासाद्य स्वयंनारायणोऽभवत्

उन धर्मात्मा प्राणियों को आये देख कर, सूर्यपुत्र यमराज प्रसन्न होकर साक्षात् नारायण का स्वरूप होगया॥

इसी प्रकार बीसियों स्थानों में पुराणों की कथा हैं। अब हम को यह दिखलाना है कि यम क्या वस्तु है। क्योंकि यम का वर्णन सैंकड़ों वेदमन्त्रों में भी आया है,

जिन में से बहुतों को देख कर लोगों को पुराणों के सी शङ्का वेदों पर भी होने लगती है। यम एक भौतिक देवता है, जैसे कि ३३ देवता हैं। देवता का अर्थ चेतन ही नहीं किन्तु जड़ पदार्थ भी है–

अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता० ।

यजुः १४ । २० ॥

इत्यादि मन्त्रों में आग हवा सूर्यादि को देवता कहा है। उस का कारण यह है कि–

देवोदानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा० ।

निरुक्त० ७ । १५

इस के अनुसार दान दीपन द्योतनादि गुण वाले पदार्थ देवता (कुदरत की फ़ोर्सेज़) कहाते हैं, जिन में से हमें जीवन (ज़िन्दगी) मिलती है। प्राणादि सभी वायु इसी से देवता कहाते हैं। देवतों का विचार निरुक्त में विस्तार से किया गया है और निरुक्तकार ने प्रथम पृथिवीलोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक के सभी पदार्थों को तीन भागों में बांट कर कहा है कि–

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः, सूर्योद्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्त्यपि वा कर्मपृथक्त्वात्, यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतोऽपि, वा पृथगेव स्युः, पृथग्वा स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि। यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति बहवोऽपि विभज्यकर्मी-

णि कुर्युः । तत्र संस्थानैकत्वं संभोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम् । यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा * इतिस्थानैकत्वम् । संभोगैकत्वं च दृश्यते । यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च संभोगोऽग्निना चेतरस्य लोकस्य, तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव ॥ नि० ७ । ५

अर्थात् नैरुक्त लोग कहते हैं कि देवता तीन ही हैं । अग्नि पृथिवी स्थान वाला, वायु कहो वा इन्द्र अन्तरिक्षस्थान वाला और सूर्य द्युस्थान वाला । उन ३ के ही माहाभाग्य अर्थात् बहुत विभाग होने से एक २ ही के भी बहुत २ नाम हैं जैसे एक ही मनुष्य के कभी होता, कभी अध्वर्यु, कभी ब्रह्मा और कभी उद्गाता नाम होते हैं । और चाहे पृथक् ही देवता आदि हों, क्यों कि स्तुतियां पृथक् हैं और नाम भी पृथक् हैं । और कर्म पृथक् यों भी हो सकते हैं कि बहुत भी परस्पर कामों को बांट कर करें । और स्थान तथा संभोग का भी एक होना उपेक्षणीय है (बाधक नहीं है) क्योंकि जैसे १ पृथिवीरूपस्थान में अनेक मनुष्य पशु और देवता * रहते

* इस से यह भी पाया जाता है कि पृथिवी के पर्वतभाग में रहने वाली मनुष्यजाति का नाम निरुक्तकार ने देवजाति माना है । जैसा कि मनु के नीचे लिखे १ । ७२ श्लोक में पर्वतीय लोगों को देव कहा है:-

त्रीण्युत्तराणिक्रमशः प्लवङ्गमनरामराः । मनु०

अगले ३ में से वृक्षदुर्ग में वानर, गृदुर्ग में मनुष्य और गिरिदुर्ग में पर्वतवासी देवजाति रहते (अपनी रक्षा करते) हैं ॥

हैं । और संभोग भी अनेक का एक होता है, जैसे पृथिवी का भोग बादल वायु और सूर्य भी करते हैं जो कि अन्य लोकस्थ हैं, तथा अग्नि जो कि पूर्वोक्तानुसार पृथिवीस्थान देवता है, अन्यलोक का भोग भी करता है। (तो फिर इन २ देवतों का इन २ लोकों से सम्बन्ध क्यों कहा था ? उत्तर–) उसे ऐसा समझो, जैसे "मनुष्यों का राज्य" इस वाक्य में मनुष्यों की प्रधानतामात्र विवक्षित होती है, रहते हैं उस में अन्य पशु आदि भी, और भोग भी भोगते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि ३ देवता माने तो शेषों को उन्हीं तीनों के अन्तर्गत समझना चाहिये । जैसे पृथिवी का अग्नि देवता मुख्य है, वैश्वानरादि नाम उसी के कार्यभेद से अवान्तर भेद हैं । इसी प्रकार अन्तरिक्ष का वायु ही मुख्य देव है–इन्द्र,यम,मृत्यु आदि उसी के अवान्तर भेद हैं और द्युलोक का सूर्य मुख्य देव है, और सप्तर्षि,रश्मि, किरण आदि उसी के सहचरत्वादि से वर्णित किये जाते हैं ॥

इस से हमारा तात्पर्य यह है कि "यम" को निरुक्तकार ने मध्यमस्थान देवताओं में गिना है और लिखा है कि–

यमोयच्छतीति सतः । निरुक्ते १०।१९

यम वह है जो देह त्याग कर निकले हुवे जीवात्माओं को जन्मान्तर में दूसरे देह तक पहुंचाता है । इसी लिये निरुक्त के भाष्यकार देवराज यज्वा नैघण्टुककाण्डनिर्वचन में कहते हैं कि–

यमः=मध्यस्थानोवायुः ।

अर्थात् यम एक प्रकार के अन्तरिक्षस्थान वायु का नाम है ॥ निघण्टु ५ । ४ में यम एक पदनाम है, जिस की व्याख्या निरुक्त १ । १९ में सविस्तर है

और उदाहरण में निरुक्ताकार ने एक ऋग्वेदका मन्त्र दिया है जिसका अर्थ हम आगे करेंगे॥ ऋग्वेदियों के शौनककृत बृहद्देवता नामक ग्रन्थ के १ अध्याय में भी लिखा है कि:—

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यमोवायुरेव च ।
सूर्योदिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवताः॥६९॥
एतासामेव माहात्म्यान्नामान्यत्वं विधीयते ।

तात्पर्य यही है कि ३ स्थानों में ३ ही देवता मुख्य हैं। अन्य सब उन्ही के अन्तर्गत हैं। जिन में से अग्नि इस लोक में, इन्द्र=वायु मध्यम अन्तरिक्षस्थ और सूर्य द्युलोक में॥ अतएव यम भी अवश्य इन्हीं तीनों में से किसी के अन्तर्गत होना चाहिये। जिस यमका वर्णन यास्कमुनिने ऋ० मण्डल १० के सूक्त १४ मन्त्र १ को प्रमाण देकर यह किया है कि—

परेयिवांसं प्रवतोमहीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥

इस सूक्त में १६ ऋचा हैं, जिन में से १।२।३।४।५। १३।१४। १५ और १६ का यम देवता है और सब में इसी यम वायु का वर्णन है॥

संस्कारविधि के मृतकसंस्कार में भी इन मन्त्रों से वायुकी शुद्धि के लिये आहुति देना लिखा है॥

मन्त्र की व्याख्या—(परेयिवांसम्) सब ओर फैले हुवे (महीः) जन्मभूमियों की (अनु) ओर (प्रवतः) झुकते हुवे (बहुभ्यः) बहुत से जीवों के लिये (पन्थाम्) मार्ग (अनुपस्पशानम्) देने वाले (जनानां संगमनम्) प्राणियों

को संगम करने वाले(राजानम्)तेजस्वी(वैवस्वतम्) सूर्यसे उत्पन्न हुवे(यमम्)यम नामक वायु को (हविषा)घृतादि हव्य सामग्री से (दुवस्य) हे मनुष्य ! तू संस्कृत कर ॥ इस मन्त्र में यम के इतने विशेषण हैं-१–सब ओर फैला हुवा–वायु सर्वत्र फैला है । २-जन्म ग्रहण करने को जाते हुवे अनेक प्राणियों को मार्ग देने वाला-स्पष्ट है कि प्रत्येक जीव इस देह को छोड़ कर दूसरे देह तक वायु के आधार से जाताहै।३-प्राणियों का संगतकरनेवाला वायु ही प्राणियों को परस्पर मिलता है, क्योंकि चलकर प्राणी एक दूसरे से मिलते हैं और चलना आयु से होता है। ५–सूर्य से उत्पन्न–वायु की गति का कारण सूर्य की गर्मी है इस कारण वायु जिस का अर्थ गतिशील, सूर्य से उत्पन्न होने वाला है ॥ ५–तेजस्वी–जिस के प्रताप से कोई प्राणी नहीं बच सकता। इस प्रकार के वायु विशेष यम की शुद्धि और अनुकूलता के लिये हवन का विधान वा आज्ञा इस मन्त्र में परमात्मा की ओर से है । यजुः १ । २ में भीः–

मातरिश्वनोघर्मोसि

लिखा है कि यज्ञ मातरिश्वा=वायु का शोधक है ॥ इस के अतिरिक्त स्वामी जी ने भी संस्कारविधि पृ० २१८ अन्त्येष्टिकर्म प्रकरण में लिखा है कि–

षडिदृमा ऋषयोदेवजा इति। ऋ०१।१६४।१५॥

यहां (६) ऋतुओं का नाम यम है । जो कि एक प्रकार से वायु में ही विशेषता उत्पन्न होती है, उसी को कहते हैं ॥ फिर वहीं लिखा है कि—

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञोगच्छत्यग्निदूतोअरंकृतः ।

ऋ० १० । १४ । १३ ॥

अर्थात् यम=वायु के लिये सोम अभिषुत करो, यम के लिये(उस)हव्य को होमो,क्योंकि भले प्रकार किया हुवा यज्ञ अग्नि दूत द्वारा यम को प्राप्त होता है ॥ तथा इस से अगले दोनों मन्त्रों में भी यही विषय है ॥

अब सब कोई जान सक्ता है कि वायु का नाम यम है और प्रकरणविशेष में परमेश्वर का नाम यम मानना तो निर्विवाद ही है । इस ऊपर के लेख से स्पष्ट है कि साकार चेतन देहधारी मानकर जो पुराणों में यम का वर्णन किया है सो भ्रममूलक और वैदिक सिद्धान्त से गिरा हुवा है । यदि गहरे विचार से देखा जावे तो यह यम शब्द की व्याख्या कर्मकाण्ड की बातों की संगति लगाने में बहुत कुछ काम आवेगी और जैसी यह यम=वायु और इसी से यमलोक की व्याख्या हुई, इसी प्रकार आगे हम पितृ और पितृलोक पर भी ऐसी ही व्याख्या करेंगे जिससे पितृयज्ञ का तत्त्व समझने में सहायता मिलेगी और जो संशय अब उठाये जा रहे हैं, उन का उपशम होगा ॥

पितृयज्ञ का उपोद्घात

यह लेख इस अभिप्राय से है कि संस्कृत पढ़े लिखे लोग प्रायशः कात्यायन श्रौतसूत्रादि में जो अवैदिक पिण्ड पितृयज्ञ के अंश हैं और कहीं मूल में और कहीं उस के भाष्य में वेदों के प्रतीक धर दिये हैं, उन्हें देख कर पिण्ड

दानादि अवैदिक प्रथाओं को वैदिक समझ कर प्रचार करते हैं। हम को यह दिखाना है कि श्री स्वामी द० स० जी ने जो मृतकोद्देश से पिण्डदान जलदान अवनेजनादि क्रियाओं को अवैदिक बता कर खण्डन किया है, सो दृढ निश्चित अनिवार्य सिद्धान्त है और वेदादि सत्यशास्त्रों में जितना वर्णन पितृयज्ञ का है, एक तो वह माता पिता आदि विद्यमान गुरु जनों के भोजनादि से सत्कार करने के अभिप्राय से है और दूसरा जहां कहीं निरुक्तानुसार मध्यस्थान (अन्तरिक्षलोकस्थ) पितरों का वर्णन करते हुवे पितृयज्ञ का प्रसङ्ग है, वह मनुष्यों के मरे हुवे पिता आदि के लिये नहीं है किन्तु चन्द्रकिरणादि जड़ पदार्थों का नाम पितर होने से वायु अग्नि सूर्य आदि व्यावहारिक ३३ देवताओं के समान देवयज्ञ का एक अङ्गभूत है और जो प्रकार देवयजन का है कि अग्नि दूत द्वारा हव्य दिया जाता है, वही प्रकार वहां पितृयज्ञ का भी है कि अग्नि दूत द्वारा कव्य दिया जाता है। देखो–

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा।
सोमाय पितृमते स्वाहा।

यजुः२।२९ और इस का स्वा०द०स० जी कृत भाष्य। स्वा० जी ने कात्यायनादि के लेख पढ़ कर और उन को अवैदिक जान कर यह सिद्धान्त किया जान पड़ता है कि मृतकोद्दिष्ट ब्राह्मणभोजन पिण्डदानादि प्रथा वेदोक्त नहीं है और वेदादि के साधारण वाक्यों को खेंचतान कर किसी समय किन्हीं लोगों ने स्वार्थसाधन का यत्न किया है वा अज्ञानपूर्वक ऐसा ही तात्पर्य समझा है। और विशेष

(प्रेतेभ्यो ददाति २३, जीवपितृकोऽपि २४, जीवान्तर्हितेपि २५, और पिण्डों पर—वयस्युत्तरे यजमानलोमानि वा १८, का० ४। १) वचन लिख कर मृतकोद्देश का पिण्डदान, पिता के जीवते हुवे भी वा पितामह के जीवते हुवे और पिता तथा प्रपितामह के मरजाने की दशा में मरों मरों को पिण्ड देना, पिण्डों के ऊपर यदि पिण्डदाता यजमान पचास वर्ष से ऊपर आयु वाला हो तो उस की छाती के रोम उतार कर चढ़ाना इत्यादि अवैदिक अंश मिला दिया है, जिस के विषय में हमारे ज्ञान में किसी वेदमन्त्र का विनियोग नहीं है। इस में यजुर्वेद अध्याय २ के २९ से ३४ तक मन्त्रों और शतपथ २। ४। २। १ से २४ तक, मीमांसादर्शन, कर्मप्रदीप २।८।१२ इत्यादि और कर्काचार्य याज्ञिकदेवादि पौराणिक मतावलम्बी भाष्यकारों के लेखों पर आगे विचार करेंगे कि किस प्रकार कितना अंश जीवते पितरों वा वायुओं के तात्पर्य से वैदिक और मान्य है तथा कितना अंश मृतकोद्दिष्ट अवैदिक और अमान्य है। हम यह भी दिखलायेंगे कि वेद में यह लिखा था, परन्तु श्रौतसूत्र और ब्राह्मणने इतना अवैदिक बढ़ाया। प्रथम वेदमन्त्र, फिर ब्राह्मण फिर श्रौतसूत्र इन तीनों का भेद साथ २ धर कर (मुक़ाबला करा कर) विचार करेंगे॥

हम ने इस लेख को मृतकोद्दिष्ट श्राद्धतर्पण पिण्डदानादि अवैदिक विश्वास के निवारणार्थ चलाया है। इसके साथ २ हम श्रौतसूत्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों की किन्हीं अंशों में अवैदिकता भी दिखलायेंगे परन्तु यह अवश्य कहते हैं कि यह विषय बड़ा गहन है और इस के आन्दोलन में

बड़ा समय और सामग्री चाहिये और समय वा सामग्री के अभाव वा न्यूनता वा अन्य कारणों से जो त्रुटियां हम से होंगी, उन्हें अन्य अनुभवी शास्त्रज्ञ लोग सहायक होकर सुधारते जावें। हमने अपने देखेभाले के अनुसार यह समझा है कि इस प्रकार यथार्थ पितृयज्ञ की संगति वेदों के वाक्यों से ठीक २ लग जावेगी और अवैदिक मृतकश्राद्ध की शङ्का निवृत्त हो जायगी। यदि किन्ही विद्वान् महाशयों को कोई ऐसे वेदमन्त्र मिलें, जिन में उन की सम्मति में मृतकोद्देश के पिण्डदानादि विधायक कात्यायनादि के वचनों से सम्बन्ध प्रतीत होता हो तो वे महाशय कृपा कर हम को लिखें। हम आन्दोलन की रीति पर उन पर विचार चलावेंगे और उन को धन्यवाद भी देंगे। हम उन स्वतन्त्र सम्मतियों को, चाहे वे हमारे सिद्धान्त (मृतकश्राद्ध वैदिक नहीं है) के अनुकूल हों, वा प्रतिकूल भी हों, हठबुद्धि वा विरोधबुद्धि वा शास्त्रार्थ के चैलेञ्ज की रीति पर नहीं समझेंगे। अब तक भी जिन महाशयों ने हम को सम्मति दी हैं, हमने बड़े आदर और धन्यवाद के साथ उन पर विचार किया है॥

श्रौतसूत्र ब्राह्मण आदि ग्रन्थ अभी तक प्रायः आर्यसामाजिक संसार में दबे दबायेसे पड़े हैं, हमारी सम्मतिमें इन ग्रन्थों के अवैदिकअंश दिखलाने का आर्यविद्वानों को यत्न करना चाहिये, जिस से इन ग्रन्थों का हठवापन (डर) आर्यों के हृदय से हटे। वे मनुस्मृति आदि के समान इन को भी प्रक्षेपयुक्त समझें वा मानें। यदि कात्यायन श्रौतसूत्र अध्याय४ कं०१ को आद्योपान्त पाठकों के सामने रखदिया जावे तो

सहज में जाना जा सकता है कि कुश, पिण्डदान, पिण्डों पर जल दुग्धादि छोड़ना, सूत, ऊन वा अपने रोम चढ़ाना, पिण्ड को घूंघना, जलती लकड़ी घुमाना, मध्यमपिण्ड को पुत्र चाहने वाली पत्नी को खुलाना इत्यादि प्रचरित पौराणिक प्रथा ज्यों की त्यों धरी है। जिस में बीच २ में वेदों के उन मन्त्रों को खेंच तान कर धर दिया है जिन में कि यथार्थ में विद्यमान माता पिता आदि गुरु जनों की सेवा शुश्रूषादि का वर्णन है। जिसका मृतकोद्दिष्टश्राद्ध में लगाना ऐसा ही है, जैसा पौराणिक लोग "शन्नोदेवीरभिष्टय०" इत्यादि मन्त्र को शनैश्चर का मन्त्र समझ कर विनियोग करते हैं। वास्तव में उन मन्त्रों में वह तात्पर्य नहीं है जिस से मृतकोद्दिष्ट श्राद्ध सिद्ध हो॥

पशुवध और श्राद्ध का विषय श्रौतसूत्रों, ब्राह्मणग्रन्थों और मीमांसा दर्शन में ऐसा इलझा हुवा है कि जिसको देखकर जब तक कोई उन का भले प्रकार अवगाहन न करे, तब तक इन विषयों में सन्तोष होना कठिन है। हमने जितना विचार किया है, उस से यही जान पड़ता है कि पशुवध की कुछ स्थलों में तो भ्रान्तिमात्र है। विशेष विचार करने से वहां पशुवध नहीं निकलता, तथा कुछ अंश प्रक्षिप्त है, जो वेदविरुद्ध पश्चात् मिलाया गया है। इसी प्रकार श्राद्ध की भी व्यवस्था है। जिस प्रकार समय आगया कि पं० भीमसेन जी के विवाद से श्राद्ध पर भले प्रकार आन्दोलन करके समाजों के सिद्धान्त की रक्षा की गई। उसी प्रकार हमने तभी लिख दिया था कि "एक समय आवेगा कि पशुवधरूपी वैदिकधर्मदूषक भ्रम से, जिस भ्रमने

बुद्ध को उत्पन्न किया और बौद्ध मत फैलवाकर वैदिक धर्म का नाश कराया, उस भ्रम का जन्म होगया और हमारी चुप और शास्त्रों की ओर से उदासीनता उस भ्रम को बढ़ा रही है। इस समय के श्राद्धसमर्थक लोग भीतर २ उस भ्रम को भी पका रहे हैं। समय आने वाला है कि वह भ्रम भी समाजों के सामने आवे और उन को श्राद्ध की तरह व्याकुल करे, परन्तु आप निर्भय रहें। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का सुझाया मार्ग आप को पार लगावेगा। आवश्यकता यह है कि आप तन मन धन से वेद और आर्ष ग्रन्थों का पूर्ण अवगाहन करने कराने में तत्पर हों और रहें" सो ही हुआ। आज वही पं० भीमसेन जी, विहारी-लालादि के लेख छापकर पशुवध का भी समर्थन करने लगे हैं।

अब तक श्राद्धविषय पर पं० ज्वालाप्रसादादि से जितने मन्त्र ब्राह्मण वा श्रौतसूत्रादि द्वारा भ्रम उठाये गये, उन का उत्तर हमने "भास्करप्रकाश" नामक पुस्तक द्वारा दिया है। जिस को पाकर विपक्षी लोग भी चुप ही हैं। परन्तु इस वार हम एक सूक्ष्म पर काम आरम्भ करते हैं। हम को विचार करने से ज्ञात हुआ है कि ब्राह्मणादि ग्रन्थों के जिन वचनों वा "संस्कारविधि" के जिन लेखों पर लोग मृतकश्राद्ध सिद्ध करने का साहस करते हैं, वह साहस "पितृ" शब्द के व्याख्यान से गिर जायगा और लोग जान सकेंगे कि स्वामीजी ने बहुत विचार कर सिद्धान्तों का स्वरूप बांधा है॥

पितृशब्द पर विचार

पितृशब्द—सामान्य करके पिता=जन्मदाता वा विद्या-दाता का वाचक है॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते । मनु

वेदविद्या के दान से गुरुकुलवासी छात्र के आचार्य को "पिता" कहते हैं, इन्हीं सम्बन्धों से अन्य चाचा, ताऊ, दादा आदि पितृ वा पिता कहाते हैं ॥

किन्हीं लोगों का यह विचार है कि प्रश्न-श्राद्ध में प्रयुक्त पितृशब्द से जीवित पिता आदि के स्थान में मृत पितरों का तात्पर्य क्यों न समझा जावे, जैसा कि शिष्ट लोग मानते आते हैं और ब्राह्मणादि ग्रन्थों से पाया जाता है, तथा वेद में साक्षात् मृतक का वाचक शब्द नहीं है तो जीवितार्थद्योतक भी कोई शब्द नहीं है । जो लोग मृतकश्राद्ध का निषेध करके जीवित श्राद्ध का विधान मानते हैं,वे यदि हम से मृतकश्राद्ध का विधान वेदद्वारा मांगते हैं तो हम उन से जीवितश्राद्ध का विशेष प्रमाण वेदद्वारा मांगते हैं । क्योंकि वेद में साक्षात् मृतकार्थक शब्द नहीं है तो जीवितार्थक शब्द भी नहीं है । तथा अन्य ग्रन्थों के विधान से कर्मकाण्डान्तर्गत श्राद्ध का विषय मृत पितर ज्ञात होते हैं ॥

उत्तर—हम बूझते हैं कि जब वेदों में अन्य उपदेश आते हैं । जैसा कि—

मा नोवधीः पितरं मोत मातरम् ।

यजुः १६ । १५

अर्थात् हमारे पिता माता को मत मार ॥ क्या ऐसे अवसर पर यह तात्पर्य कोई निकाल सकता है कि हमारे

मरे हुवे माता पिता को मत मार ? क्योंकि "जीवते हुवे" का वाचक कोई शब्द नहीं है। और–

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। यजुः १६। १६

अर्थात् हमारे छोटे बच्चे, हमारी आयु, हमारी गौवों, और हमारे घोड़ों पर हिंसा न कर। तो यहां जीवितार्थ वाचक शब्द न होने पर भी क्या कोई विश्वास करेगा कि यहां हमारे मरे हुवे बच्चे, आयु, गौ और घोड़ों से तात्पर्य है ? तथा–

यजमानस्य पशून्पाहि। यजुः १। १

क्या कोई यहां पशुरक्षा का अर्थ मृतपशुरक्षा ले सकता है ? और–

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।

अथर्व १९। ७। ६२। १

अर्थात् मुझे देवतों में और राजाओं में प्रिय कर। सब के प्रियाचरण पर दृष्टि करो, शूद्र पर भी और आर्य पर भी॥

क्या यहां कभी किसी को शङ्का होती है कि मरे हुवे देवतों और राजाओं, शूद्रों और आर्यों से प्रीति का विधान है ? क्योंकि साक्षात् जीवितार्थद्योतक कोई शब्द नहीं है। कहां तक गिनावें, समस्त वेद की आज्ञायें इसी प्रकार जानिये। इन सब में जीवितादि शब्द न होने पर भी जीवितार्थ ही लिये जाने में सब लोग यही कहेंगे कि–

सम्भवाऽसम्भवयोः सम्भवे कार्यसंप्रत्ययः ॥

सम्भव और असम्भव में से सम्भव को मान कर काम करना चाहिये, तो फिर श्राद्ध विषय में उपस्थित और सम्भव पितरों को छोड़ कर असम्भव मृत पितरों का ग्रहण क्यों किया जावे ॥

शिष्ट लोगों का मानना विवादास्पद है । जो लोग मृतकश्राद्ध को मानते हैं वा जो ग्रन्थ इस का प्रतिपादन करते हैं, उन ही ग्रन्थों वा लोगों में ऐसी पशुवध, मांस-भक्षण, मद्यपानादि अनेक निन्दित विधियें वा आज्ञायें और प्रथायें उपस्थित हैं, जिन को करने मानने वाला शिष्ट नहीं समझा जा सकता तथा श्रौतसूत्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों का बहुत सा यज्ञविषयक भाग जो पितृयज्ञ को देवयज्ञ का एक अङ्ग विधान करता है और जिस में पितरों का वर्णन आता है और जहां माता पिता आदि जीवितों का तात्पर्य प्रकरण में सङ्गत नहीं होता, उस पर दूसरा यह विचार कर्त्तव्य है कि निघण्टु ५ । ५ में–

मरुतः । रुद्राः । ऋभवः । अङ्गिरसः ।
पितरः । अथर्वाणः । भृगवः । आप्त्याः ॥

इत्यादि पदनाम लिखे हैं। इन में आप देखते हैं कि "पितरः" भी एक पद है । इन सब पदों की व्याख्या निरुक्त में ११ । १३ से आरम्भ की गई है । निरुक्तकार यास्क मुनि ने इन की व्याख्या से पूर्व–

4812

अथातोमध्यस्थानादेवगणाः ।

यह अधिकार (हैडिङ्ग) रक्खा है कि अब मध्यस्थान अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित देवगणों का वर्णन है । फिर लिखा है कि-

तेषां मरुतः प्रथमागामिनोभवन्ति। मरुतोमितराविणोवा मितरोचिनोवा महद्रवन्तीति वा तेषामेषा भवति-॥१३॥आविद्युन्मद्भिर्मरुतःस्वर्कैरथेभिर्यातऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। आ वर्षिष्ठया न इषा वयोन पप्तता सुमायाः॥

ऋ० १ । ८८ । १

अर्थ-उन मध्यमस्थान देवगणों में प्रथम आने वाले देवगण "मरुत्" हैं। जिन का अर्थ-मित शब्द करने वाले वा मितदीप्ति वाले वा महाशब्द करने वाले है । उन के विषय में यह (ऋचा) है:-

[देखो ऊपर मूलमन्त्र का प्रमाण दिया है जिस का अर्थ यह है कि] (मरुतः) वायुविशेष (विद्युन्मद्भिः) बिजुली वाले (स्वर्कैः) सुन्दर सूर्यकिरणों (ऋष्टिमद्भिः) ऋष्टि वाले (अश्वपतनैः) और वेग वाले (रथेभिः) रथों से (आयात) प्राप्त होवें । (सुमायाः) सुन्दर बुद्धि तत्त्व वा कर्म के सहायक [वे मरुत्] (वर्षिष्ठया इषा) अति श्रेष्ठ अन्न के साथ (वयोन) पक्षियों के समान (नः) हम को (आपप्तत) प्राप्त हों ॥

मरुत् शब्द से वायु विशेष का ग्रहण लौकिक और शास्त्रीय बोलचाल में भी है। इस मन्त्र में उन वायुविशेषों के काम बताये हैं। वे मरुत् सूर्य की किरणों और बिजुलियों के रथों पर चलते हैं, अतः किरणें और बिजुली उन के रथ समान हैं, जो वेग वाले हैं। वे उत्तम बुद्धितत्त्व की वृद्धि करने वाले और कर्म के भी साधन हैं। वे वर्षा करने से मानो अन्न को वर्षाते हैं और पक्षियों के समान गगनमण्डल में इधर उधर प्रवाह से बहते हैं॥

दूसरा पद "रुद्राः" है। जिस पर निरुक्तकार यह मन्त्र प्रमाण देते हैं (निरु० ११। १४-१५):-

"आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसोहिरण्यरथाः सुविताय गन्तन"। (इत्यादि। ऋ०५।५७।१)

इस में शतपथोक्त प्राण अपानादि वायुविशेष, जिन को रुद्र कहते हैं, उन का वर्णन है। (रुद्रासः) रुद्रसंज्ञक वायुविशेष (इन्द्रवन्तः) इन्द्र=बिजुली वा सूर्यकिरणयुक्त (सजोषसः) बिजुली आदि से प्रीति वा मेल रखने वाले (हिरण्यरथाः) सूर्यादि का तेज जिन का रथ है (सुविताय) भले प्रकार विस्तृत होकर (आ गन्तन) प्राप्त होवें॥

इस से भी आकाशगत प्राणाऽपानादि पदार्थों का तात्पर्य रुद्राः पद से समझा जाता है॥ जैसा कि शतपथ ब्राह्मण कां० १४ प्रपा० १६:-

"सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव "एकादश रुद्रा"

द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ ४ ॥ "कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान् मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति" ॥ ५ ॥ कतम आदित्या इति । द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳसर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदꣳसर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥६॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति । कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञइति पशवइति ॥ ७ ॥

३३ तेंतीस देवता ये हैं:-

८ वसु (अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः चन्द्र और नक्षत्र) ११ "रुद्र (प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय) और ११ वां आत्मा"। १२ आदित्य-(वर्ष के १२ मास) इद्र=विजुली और यज्ञ ये ३३ पदार्थ सब देवता हैं। पूर्वोक्त ८ पदार्थ वसु इस लिये हैं कि (एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितम्) इन में ही यह सब सुवर्णादि धन रक्खा है (एतेहिदꣳ सर्वं वासयन्ते) ये ही इस सब [जगत्] को वसाते हैं। इस से यह भी सूचित होता है कि सूर्यादि

लोकों में भी वसतियां हैं। "पूर्वोक्त ११ पदार्थ रुद्र इस लिये हैं कि–(यदाऽस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रो०) जब मनुष्यदेह से ये प्राणादि ११ रुद्र निकलते हैं तब इष्ट मित्र सम्बन्धियों को रोदन कराते हैं। बस रोदन कराने से रुद्र नाम पड़ा" । इत्यादि ॥

इस से आगे "ऋभवः" पद की व्याख्या है:–

ऋभव उरु भान्तीति वर्त्तेन भान्तीति वर्त्तेन भवन्तीति वा। तेषामेषा भवति–

(निरु० ११। १५)

" विष्ट्वी शमी तरणित्वे नवाघतो० "

(इत्यादि ॥ ऋ० १। ११०। ४)

***आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते ॥

अर्थ–बहुत प्रकाश करने, ऋत से प्रकाश करने वा ऋत से होने से ऋभु कहाते हैं। इसी से सूर्यकिरणों को भी ऋभु कहा जाता है। इस के विषय में नीचे का प्रमाण है–

" अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे

तद्द्योदमृभवो नानुगच्छथ " ॥

इस का तात्पर्य निरुक्तकार यह बताते हैं कि सूर्यकिरणें जितने काल अपने घर=सूर्य में वा द्युलोक में रहती हैं उतने अधिक काल तक पृथिव्यादि पर नहीं॥

इस के आगे निरुक्तकार "अङ्गिरसः" पद की व्याख्या करते हैं कि–

अङ्गिरसो व्याख्याताः । तेषामेषा भवति- "विरूपास इदृषयस्तइद्भभोरवेपसः । ते अङ्गिरसःसूनवस्ते अग्नेःपरिजज्ञिरे" (ऋ०१०।६२।५) बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीरकर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा तेऽङ्गिरसः पुत्रास्तेऽग्नेरधिजज्ञिरे, इत्यग्निजन्म ॥ (निरु० ११ । १६-१७)-

अर्थात् ऋषि=सूर्यकिरणों के अनेक रङ्ग हैं, उन का गम्भीर काम है वा वे गम्भीर बुद्धितत्त्व को प्रकट करने वाले हैं, वे सूर्य के पुत्रतुल्य हैं और वे अग्नितत्त्व से उत्पन्न हुवे हैं । ऋषि ज्ञानदाता को कहते हैं और सूर्यकिरणें प्रकाश से ज्ञान फैलाती हैं ॥

यहां तक पितरः पद के सहचारी आकाश के वायु, प्रकाश वा किरणादि पदार्थों का वर्णन हुवा । ये सब मध्यस्थान अर्थात् अन्तरिक्ष के देवगण हैं । इन्हीं देवगणों का एक भेद वा एक जाति (वा एक क़िस्म) पितर हैं, जिन की व्याख्या आगे निरुक्तकार करते हैं और इन ही की वस्तुता समझ में आने के लिये हमने यह लेख जड़ से उठाया है । पितर शब्द की व्याख्या सविस्तर लिख कर फिर हम सुगमता से यह दिखलायेंगे कि-

" श्राद्ध में मृतपितरों के उद्देश से ब्राह्मण जिमाने वा पिण्डप्रदान करने से परलोकस्थ पितरों की तृप्ति मानना वैदिक सिद्धान्त नहीं है ॥

ऊपर के मरुत्, रुद्र, ऋभु और अङ्गिरस् शब्दों की व्याख्या से आप को ज्ञात होगया होगा कि अन्तरिक्ष लोक, जिस का मुख्य देवता पूर्व, "यम" के व्याख्यान में निरुक्तानुसार वर्णन किया हुवा "वायु" है, उस साधारण वायु पर सूर्य चन्द्रादि लोकों की किरणों द्वारा प्रभाव पड़ते हैं, उन प्रभावों से युक्त "वायु" के अनेक प्रकार बन जाते हैं और उन प्रकारों के नाम मरुत्, रुद्र, ऋभु, अङ्गिरस्, पितर इत्यादि पड़ते हैं। जिन के पृथक् २ काम भी ऊपर निरुक्तकार ने वेदमन्त्रों के प्रमाणों से बतलाये हैं। अब आगे निरुक्तकार "पितरः" पद का अर्थ करके उन का काम बतलाते हैं–

पितरोऽव्याख्याताः। तेषामेषा भवति–"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं यईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु"(ऋ०१०। १५। १)

उदीरतामवर उदीरतां पर उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनस्तेऽसुं ये प्राणमन्वीयुरवृका अनमित्राःसत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा ते न आगच्छन्तु पितरो ह्वानेषु। माध्यमिकोयम इत्याहुस्तस्मान्माध्यमिकान् पितॄन् मन्यन्ते ॥ निरु० ११। १८ ॥

अर्थात् जो पितर नाम वायु हमारे समीप हैं, जो दूर परे हैं, जो बीच में हैं, जो पालन करते हैं, जो सोम ओषधि को अपने प्रभाव से सम्पन्न करते हैं, जो प्राण वायु के साथ लगे रहते हैं, जो किसी के नाशक नहीं, जो यज्ञ को पहचानते हैं, वे पालक वायु हमारे यज्ञों में रक्षक हों ॥

यह तो स्पष्ट ही है कि पितर का अर्थ पालन करने वाला है। चन्द्रसूर्यादि से आये हुवे प्रभाव से वायु के दो मुख्य भेद हो जाते हैं १—पालन पोषण पुष्टि योजना वा जोड़ना भिन्न २ पदार्थों का परस्पर मिलाना; यह काम करता है। दूसरा प्रत्येक पदार्थ को छिन्न भिन्न पुराना जीर्ण पृथक् २ करना स्वभाव रखता है। इन्हीं दो भेदों से संसार का प्रत्येक जीव जन्तु ओषधि वनस्पति घट पट आदि पदार्थ एक समय तक पुष्ट होता, बढ़ता, पालित होता और फिर यथा समय पुराना होता, जीर्ण होता ढीला होकर बिखरता २ नष्ट हो जाता है। बस इन दोनों में से जोड़ने, मिलाने, पुष्ट करने वाले को पितृ और विपरीत को देव कहते हैं ॥

जिस प्रकार एक ही कुरुवंश के लोगों के आगे चल कर कौरव, पाण्डव दो नाम होगये, इसी प्रकार एक ही देवगण (वायु) आदि के आगे चलकर पितृ, देव दो नाम होगये। इन दोनों प्रकार की वायु आदि की गतियों के उत्पादक सामान्यता से तो पृथिव्यादि सभी लोक हैं परन्तु मुख्यता से पितृ (वायु) का उत्पादक चन्द्रमा

और देव वायु का जनक सूर्य है। चन्द्रमा शीतलता से मिलाने जोड़ने पोषण पालन संयोग करने वाला और सूर्य उष्णता से वियोजक छेदक नाशक आदि गुणों का स्रोत है। कदाचित् शङ्का हो कि वनस्पति आदि सूर्य की धूप से सूखते हैं पर उगते भी तो हैं, फिर उसे नाशक ही क्यों माना गया, पालक भी क्यों न कहा जाय। उत्तर--वनस्पति की उत्पत्ति में भी सूर्य बीज का भेदक ही है, पुनः पत्र पुष्पादि का भी शोषक है। शेष चन्द्रमाका प्रभाव है॥

ऊपर मन्त्र में जो काम कहे हैं वे अवश्य पितृसंज्ञक वायु के हैं। वह पालन करता ही है। सोमादि ओषधियों का आप्यायन (परवरिश)करता ही है। वह प्राणों(रुद्रों) वायुओं का सहायक हो कर उन का अनुगामी ठीक ही है। वह सब का पोषक पालक होने से किसी का शत्रु= नाशक नहीं, यह भी युक्त ही है। जैसे गोधूमादि के जड़ बीज स्वाभाविक अपने सात्म्ययुक्त अणुओं को पृथिवी में पहचान लेते हैं, वैसे पितर भी पितृयज्ञ को पहचान लेते अर्थात् यज्ञधूम में से अपने भाग (खुराक) को लेलेते हैं। इसके समझने को हमारे चारों व्याख्यानों में से "वैदिक देवपूजा" नामक निबन्ध देखिये। वे वायु यज्ञानुष्ठान करने वालों की रक्षा करने के साधन हैं ही हैं। इत्यादि प्रकार से मन्त्र ने पितृ(वायु)के गुण कर्म स्वभाव बतलायेहैं॥

आगे निरुक्तकार स्पष्ट कहते हैं कि अङ्गिरस् भृगु अथर्वन् पितृ आदि एक ही वस्तु के नाम हैं-

अङ्गिरसो व्याख्याताः। पितरो व्याख्याताः। भृगवो व्याख्याताः। अथर्वाणोऽथनवन्तस्य

र्वतश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः । तेषामेषा साधारणा भवति—

"अङ्गिरसोनःपितरोनवग्वाअथर्वाणोभृगवः सोम्यासः । तेषां वयं समतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम" ॥ ऋ० १० । १४ । ६

अङ्गिरसो नः पितरोनवगतयोनवनीत गतयोवाऽथर्वाणो भृगवः सोम्याःसोमसं-पादिनस्तेषां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतौ यज्ञियानामपि चैषां भद्रे भन्दनीये भाजनभवति वा कल्याणे मनसि स्यामेति । माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः ॥ नि० ११।१९॥

अर्थात् पितर (वायु) अङ्गिरस् भी कहाते हैं, तथा भृगु और अथर्वन् आदि भी उन के नाम हैं और इन सब नामों का साधारण कथन करने वाली यह (ऊपर की) ऋचा है । पितर नवगति वाले वा नवनीत अर्थात् मक्खन के सी लचकदार गतियुक्त वस्तु हैं, वे अथर्वन् अर्थात किसी का नाश नहीं करते, पुष्टि करते हैं । वे सोमादि ओषधियों को भी पुष्ट करते हैं । हम को योग्य है कि हम उन वायुओं को यज्ञिय बनावें और यज्ञियों के उत्तम बुद्धितत्व और उत्तम मनस्तत्व में रहें ॥

आप यह जानना चाहेंगे कि यदि पितर वायु का

नाम है और वह जड़ हैं, तो उन में बुद्धि और मन कहां से आया ? मन बुद्धि तो चेतन जीवात्मा में होते हैं ?

उत्तर—यह ठीक नहीं है कि मन वा बुद्धि जीव में हैं। किन्तु मन वा बुद्धि भी एक प्रकार के जड़ तत्त्व हैं और जैसे हाथ पांव कान नाक आंख आदि जड़ बाह्य इन्द्रियों से चेतन जीव काम लेता है और ये इन्द्रियें काम देती हैं, इसी प्रकार मन बुद्धि चित्त अहंकार रूप अन्तःकरण अर्थात् भीतर की इन्द्रियां हैं, ये भी जड़ हैं, इन से भी जीवात्मा काम लेता है। और जिस प्रकार इस देह में ये मन वा बुद्धितत्त्व हैं, ऐसे ही इस ब्रह्माण्ड में भी वायु के साथ ये मन वा बुद्धितत्त्व भरे हैं, प्रत्युत हमारे देह में जो मन वा बुद्धि है वह इसी आकाश में भरे मन वा बुद्धि का एक भाग है और जैसे मरने से शरीर के अन्य तत्त्व इन आकाश में भरे तत्त्वों में मिल जाते हैं, इसी प्रकार देवयान से शरीर छोड़ कर उत्क्रमण करने वाले आत्मा के मन बुद्धि आदि अपने २ कारण में लय को प्राप्त हो जाते (मिल जाते) हैं। आप मन बुद्धि चित्त अहङ्कार के जड़ होने में प्रमाण मांगेंगे, सो—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम्० ॥

इत्यादि सांख्यदर्शने १ । ६१ ॥

अर्थात सत्त्व रज तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। उस प्रकृति से महत्तत्त्व=बुद्धि, बुद्धितत्त्व से अहंकार तत्त्व, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दोनों (५ ज्ञानेन्द्रियें ५ कर्मेन्द्रियें) प्रकार की १० इन्द्रियें उत्पन्न हुईं॥

महतत्त्व का अर्थ बुद्धि ही स्वामी द० स० जी ने सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ८ में इस सूत्र का अर्थ करते हुवे लिखा है॥

वैद्यक शास्त्र में सैंकड़ों प्रयोग बुद्धि बढ़ाने के लिखे हैं। यदि बुद्धितत्त्व जड़ न होता तो उसका बढ़ना घटना कैसे होता। तथा धर्मशास्त्र जो बुद्धि की वृद्धि करने वाले प्रयोगों का विधान करते हैं, वे व्यर्थ हो जाते। वेदों में जो गायत्रीमन्त्र और—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥

(यजुः ३२।१४) इत्यादि मन्त्र बुद्धि की प्राप्ति वृद्धि आदि की प्रार्थना का उपदेश करते हैं, वे भी व्यर्थ हो जाते। इस से निश्चय जानिये कि बुद्धि मन आदि जड़ पदार्थ हैं, जो मनुष्यादि प्राणियों, ब्राह्मी आदि ओषधियों और पितृनामक आदि वायुओं में भी रहते हैं॥

अब आप यह प्रश्न करेंगे कि यदि जड़ पदार्थों में बुद्धितत्त्व है तो मनुष्य आदि चेतनों के समान उन्हें भी ज्ञान होना चाहिये?

उत्तर-इन्द्रियें और बुद्धि वा अन्तःकरण, कर्त्ता वा ज्ञाता नहीं हैं, किन्तु क्रिया और ज्ञान के साधन हैं। बस साधनमात्र से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, जब तक

स्वतन्त्र कर्त्ता उन साधनों से साध्य को सिद्ध न करे। जड़ पदार्थ ब्राह्मी बूटी आदि में जड़ बुद्धि तत्व है जो कि जानने का साधन है, परन्तु जीवात्मा नहीं, जो जानने वाला कर्त्ता है। इस लिये उन में ज्ञान नहीं। ज्ञान का अधिकरण आत्मा है, न कि बुद्धि आदि जड़ तत्व। आप यों समझिये कि जैसे हम लोग आंख से देखते हैं, परन्तु यदि आत्मा न हो तो क्या केवल आंख देख सकती है? हम दूरबीक्षण यन्त्र से दूर का पदार्थ देखते हैं, परन्तु क्या हमारे विना केवल यन्त्र ही देख सकता है, हम देखते हैं कि केवल साधनों से काम नहीं होता किन्तु कर्त्ता और करण=साधन दोनों से काम होता है। इसी प्रकार जिन जड़ वायु, ओषधि आदि पदार्थों में केवल साधन बुद्धि मन आदि तत्व हैं, आत्मा नहीं है, उन्हें ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु यदि हम उन पदार्थों से उपयोग लेवें तो हमारी बुद्धि बढ़ कर हमें काम दे सकती है॥

जिन संयोजक और वियोजक दो प्रकार के पदार्थों (पितृ और देवों) का हमने ऊपर वर्णन किया है, उन दोनों में से एक के द्वारा पुनर्जन्म और दूसरे के द्वारा मुक्ति को प्राप्त होने वाले जीव प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के दोनों मार्गों को 'पितृयाण' और 'देवयान' कहते हैं। इन का वर्णन वेदादि शास्त्रों में अनेक स्थलों पर आया है। जिन वायुविशेषों को पितर भृगु अङ्गिरस् यम आदि कहते हैं, वह इस जीव के लिङ्ग देह को अपने संयोजक प्रभाव से प्रभावित करके स्थूल देहधारण के योग्य बना देते हैं और जिन को भग अंशुमान् आदित्यादि कहते हैं वे अपने

वियोजक प्रभाव से प्रभावित (सुअस्सर) करके लिङ्ग देह का भी वियोग कराने में सहायक होते और सब शरीरों से छुड़ा देते हैं। सकाम यज्ञानुष्ठानादि करने वालों को परमात्मा पितृयाण मार्गद्वारा पुनर्जन्म देता है और निष्काम कर्मोपासनाज्ञानकाण्ड के अनुष्ठानियों को परमात्मा देवयान मार्गद्वारा मोक्ष देता है॥ ऋग्वेद १०।८८।१५ में–

द्वे स्रुति अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

(अहम्) मैं (मर्त्यानाम्) मरणधर्मा प्राणियों के (द्वे) दो (स्रुती) मार्गों को (अशृणवम्) सुनता हूं। देवानाम्) एक वियोजक देवतों का (उत) और (पितृणाम्) दूसरा संयोजक=पितरों का। (इदं विश्वम्) यह जगत् (यत् पितरं मातरं च अन्तरा) जो कि माता और पिता के बीच जन्म लेने वाला है सो (एजत्) चेष्टा करता हुवा (ताभ्याम्) उन दोनों पितृयाण और देवयान मार्गों द्वारा (समेति) अपने २ कर्मानुकूल प्राप्त होता है॥

इसी प्रकार की यजुर्वेद १९।४७ में भी ऋचा है। और भी ऋग्वेद (१। ७६। २) में देवयान का वर्णन है कि–

प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्०

यथा ऋग्वेद १०। २। ७ में पितृयान का वर्णन है कि–

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान। पन्थामनु प्र विद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो विभाहि॥

हे जीव ! जिस को द्यौः, पृथिवी, जल, त्वष्टा आदि आकाश के दिव्य पदार्थ जन्म देते हैं, वह तू पितृयाण मार्ग को जानता हुवा भले प्रकार प्रकाशित हो ॥

देवयान का वर्णन यजुः ५। ३३ में भी आया है। यथा–

स्वस्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात्

इस देवयान मार्ग (मोक्षपथ) में मेरा कल्याण हो ॥

तथा यजुः २९। २

घृतेनाञ्जन्सं पथोदेवयानान्

में भी देवयानों का वर्णन है। और अथर्ववेद ३। ३। १५। २ में, यथा–

ये पन्थानोबहवोदेवयाना
अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति

जो कि बहुत से देवयान मार्ग हैं वे द्युलोक और पृथिवी के बीच में जाते हैं॥ और फिर अथर्व ९। २। ४। ३ में–

तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानै
र्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः

जातवेदा अग्नि=परमात्मा उस मुमुक्षु को, जिस ने अपने को ज्ञानाग्नि में हवन कर दिया, देवयान मार्गों से अपने ऐश्वर्ययुक्त मोक्षधाम को प्राप्त करे ॥ और भी अथर्व १२। २। २। ४१ में–

प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः

तथा अथर्व १८। ४। ४। २ में–

तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानै-
र्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्

उन मार्गों से जा, जो देवयान कहाते हैं, जिन से ब्रह्म-यज्ञ करने वाले मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ तथा अथर्व १८ । ४ । ४ । १५ में भी–

स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः

और अथर्व ८ । ५ । १० । २९ में भी–

देवयानं पन्थां जानाति ॥ इत्यादि

देवयानाः पन्थानः । तैत्तिरीय सं० २ । ३ । १४ । ४ ॥ सएषदेवयानोवा पितृयाणोवा पन्थाः । श० १ । ९ । ३ । २ देवयानानेवैवं पथोदर्शयति ॥ श० १३ । २ । ७ १२ ॥ पन्थानं तु देवयानम् । ताण्ड्य महाब्रा० १२ । ११ । १० ॥ इत्यादि ग्रन्थों में अनेक प्रमाण " देवयान " के हैं और इसी प्रकार " पितृयाण " के विषय में अथर्व ८ । ५ । १० । २७ में–

पितृयाणं जानाति

और अथर्व १२ । २ । २ । ८–९–१० में–

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ॥ इहायमितरोजातवेदा देवोदेवेभ्योहव्यं वहतु प्रजानन् ॥८॥ क्रव्याद-मग्निमिषितोहरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण

मृत्युम् । नि तं शार्स्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितृणां लोकेपि भागो अस्तु ॥ ९ ॥ क्रव्याद-मग्निं शशमानमुक्थ्यं प्रहिणोमि पथिभिः पितृयाणैः । मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥ १० ॥

संक्षिप्त भाव यह है कि चिता का अग्नि, जिस में मृतक को फूंकते हैं "क्रव्याद" है, उस क्रव्याद अग्नि में ऐसे तीव्र पदार्थ डालने चाहियें, जिन से वह बहुत ऊंचा यम=वायु में चला जावे, और इस पृथिवी पर यह दूसरा अग्नि देवयज्ञ द्वारा वायु आदि देवों को हव्य पहुंचावे ॥

क्रव्याद अग्नि जो तीव्रतारूपी वज्र से प्राणियों के देहों को मृत्युनामक वायु विशेष में पहुंचाता है, उसको अत्यन्त ऊंचा दूर फेंकना चाहिये। और गार्हपत्य अग्नि से पितृनामक वायुवों में भाग पहुंचाना चाहिये ॥

क्रव्याद अग्नि को पितृयाण मार्गों से दूर पहुंचाना चाहिये, इतना ऊंचा कि जिस से वह देवयान मार्गों को न आवे और पितृनामक वायुओं में वर्त्तमान होवे ॥

रसायन की (केमिकल) रीति पर सड़े पदार्थ स्वच्छ होजाते हैं और स्वच्छ पदार्थ सड़ जाते हैं । वास्तव में जिन दुग्धादि स्वच्छ पदार्थों को पड़ा रहने दें, वे स्वच्छ भी सड़ कर दुर्गन्धयुक्त हो जाते हैं और सड़े हुवे पदार्थों को हम स्वच्छ करना चाहें तो अग्नि आदि के द्वारा

सुधार सकते हैं। बस मृतक का विधिपूर्वक दाह संस्कार करने से सड़ा हुवा और सड़ने वाला भी मृतक का शरीर वायु आदि तत्त्वों में मिल जाता है और पितृसंज्ञक ऊपर के वायु में दूर चला जाता है और उससे किसी को रोगादि दुःख के स्थान में दूसरा उत्तम फल यह होता है कि वह प्राणियों के देह बनने योग्य शुद्ध स्वच्छ वायुगत रहता हुवा पुनर्जन्म में प्राणिणों के दूसरे देहों के बनने में उपादान कारण का काम देता है। दृष्टान्त के लिये हम खाद को लेकर विचार करें। हम स्वच्छ गोधूम आदि पदार्थोंकी रोटी आदि खाते हैं, वही पेट में जाकर प्राकृत रसायनी (नेचुरल केमिकल) संयोग से विष्ठारूप दुर्गन्ध में परिणत हो जाती है । फिर वही खेतों में खाद बना कर डाला हुवा प्राकृत रसायनी संयोग से उन्हीं गोधूमादि अन्नों का उपादान कारण बन जाता है ॥

पाठक इस से मृत्यु, यम, पितर आदि वायुओं को खाद (पांस) के तुल्य समझते हुवे और उन वायुओं के अन्तरिक्षस्थान को मृत्युलोक यमलोक पितृलोकादि नामक खेत जानते हुवे भले प्रकार समझ सकते हैं कि जिस प्रकार खाद खेत अन्न जल और वायु आदि के संस्कार से हम उत्तम अन्न सदा उत्पन्न करते रह सकते हैं, इसी प्रकार दाह संस्कार के अनुष्ठान से हम प्राणी और अप्राणियों की दशा को सुधारते रह सकते हैं ॥

जिस प्रकार देवों=वियोजक सूर्यकिरणादिकों के प्रभाव युक्त पदार्थों को उपयुक्त बनाने के लिये अग्नि से देवयज्ञ होता है । इसी प्रकार पितर=संयोजक चन्द्रकिरणादि

प्रभाव से प्रभावित पदार्थों को उपयुक्त रखने के लिये अग्निद्वारा ही पितृयज्ञ का अनुष्ठान भी हमारा कर्त्तव्यहै, न कि ब्राह्मण भोजन वा पिण्डप्रदानादि अवैदिक मार्ग से। अर्थात् जिन वायु आदि की शुद्धि और अनुकूलता संपादन करने के लिये वेदों ने होम करने की आज्ञा दी है, उन वायु आदि पदार्थों के संयोजक और वियोजक होने से पितृ और देव दो भेद हैं। जो पदार्थ अग्नि में पितरों के उद्देश्य से डाले जाते हैं, वे कव्य कहाते हैं और जो देवों के उद्देश्य से डाले जाते हैं,वे हव्य कहाते हैं। कव्यकर्म को पितृयज्ञ और हव्यकर्म को देवयज्ञ कहते हैं। ब्राह्मणादि ग्रन्थों में पितृयज्ञ के कव्यों का होम, ददाति (देना) क्रिया से और देवयज्ञ के हव्यों का होम जुहोति (देना) क्रिया से वर्त्ता गया है। इत्यादि भेद को देख कर कितने ही भोले भाइयों को मृतपितरों का श्राद्ध समझ पड़ता है॥

प्र०—यदि मृतश्राद्धादि विषयों को श्रौतसूत्रादि में प्रक्षिप्त वा अमान्य मानोगे तो स्वामी दयानन्दसरस्वती जी का भूमिका में लिखा यह विचार कैसे माननीय रहेगा कि ब्राह्मणादि ग्रन्थ परतःप्रमाण होकर प्रमाण कोटि में हैं। क्योंकि मृतकश्राद्धादि के निकाल देने से उन उन ग्रन्थों का अर्ध भाग भी माननीय न रहेगा। तब पुराण, जिन में अर्ध से अधिक भाग माननीय ठहर सकता है, वे क्यों न माननीय ग्रन्थों में समझे जावें॥

उत्तर—किसी के पास इस विषयका क्या प्रमाण है कि पुराणोंका अधिक भाग वेदविरुद्ध होनेसे और ब्राह्मणादि

ग्रन्थों का न्यून भाग वेदविरुद्ध संभव होने से ही स्वामीजी ने पुराण अमान्य और ब्राह्मण श्रौतादि मान्य ठहराये थे ? यह भी तो हो सकता है कि ब्राह्मणादि ग्रन्थों में चाहे पुराणों से भी अधिक भाग त्याज्य हो, तथापि पुराणों को अनार्ष नतन और मतमतान्तरों के जगड्वालसे भरा जान कर त्याज्य माना हो और ब्राह्मण ग्रन्थों को इस लिये मान्य लिखा हो कि उन की वाक्यरचना आदि प्राचीन आर्षशैली के तुल्य अधिक है। उन का वेदों से निकट संबन्ध है। उन में वेदों का अधिक व्याख्यान है। उन के छोड़ने से वेदार्थ जानने के साधन कम होजावेंगे। उन को न मानने से यज्ञ का कोई भी प्रकार हमारे पास न रहेगा। इत्यादि कारणों से बहुत अंश अमान्य होने पर भी ग्रन्थमात्र को स्वामी जी ने त्याज्य नहीं माना हो॥

जो पितरों का व्याख्यान हमने उपर लिखा है उसके अनुसार पितृयज्ञ मानने से केवल इस विषय में उतना ही अमान्य रह जायगा जिस में साक्षात् मृतकश्राद्ध का समर्थन हो। किन्तु ऐसा त्याज्य भाग बहुत न निकलेगा और आधे से अधिक त्याज्य भाग न ठहरेगा॥

यह भी किस ने परताल की है कि पुराणों में से अर्ध भाग से अधिक माननीय हो सकता है। चाहे पुराणों में वेदानुकूल बहुत से धर्मोपदेश भी हों, परन्तु प्रायः वे असंभवकथामिश्रित होने से त्याज्य हैं। जैसा कि महाभारत का सर्पसंवाद है। यद्यपि वह धर्मोपदेशयुक्त है, परन्तु असंभव कथा से मिश्रित है। इत्यादि अनेक भाग ऐसे निकलने से पुराणों में ब्राह्मणादि ग्रन्थों की अपेक्षा

न्यून भाग ही ठीक निकल सकता है। अधिक नहीं॥ क्या कोई पुरुष ब्राह्मणादि ग्रन्थों को (परतःप्रमाण कह कर) मान्यकोटि में गिनाने से यह मान सकता है कि स्वामी जी इन ग्रन्थों को आद्योपान्त मानते थे ? यदि नहीं, तो इस पर बल लगाना ही व्यर्थ है॥

अब–

मन्त्र, ब्राह्मण और कात्यायन औतसूत्रों पर पितृयज्ञ के एक अंश का विचार करते हैं–

यजुर्वेद का भाष्य करते हुवे, अध्याय २ मं० २९ के भाष्यारम्भ में महीधर ने यह शीर्षक दिया है कि–

अतः परं पिण्डपितृयज्ञमन्त्राः

इस को देख कर लोग प्रथम ही पिण्डदान की पौराणिक क्रिया की ओर सङ्केत समझ लेते हैं। फिर कात्यायन श्रौतसूत्र में–

अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञश्चान्द्राऽदर्शने अमावास्यायाम् ४ । १ । १

यह देख कर मोहित हो जाते हैं कि देखो पौराणिक पितरों की अमावस्या भी आगई। फिर शतपथब्राह्मण २ । ४ । २ । २४ में–

अथावजिघ्रति प्रत्यवधाय पिण्डान्

इस को देख कर प्रसन्न होने लगते हैं कि यह पौराणिक श्राद्ध के पिण्ड भी मिल गये और मन्त्र, ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्र की सङ्गति भी होगई। परन्तु हम चाहते हैं कि

प्रथम इस प्रकरण के मन्त्रों को लिख कर उन का सरलार्थ दिखलावें, फिर ब्राह्मण का पूरा प्रकरण दिखा कर यह स्पष्ट करें कि मूल से वह कहां तक सम्बन्ध रखता है और श्रौतसूत्र के समस्त प्रकरण को रख कर दिखलावें कि उस में कितना अंश वेदानुकूल है। अनन्तर मीमांसादर्शन के पिण्डपितृयज्ञ को पाठकों के समक्ष रक्खें और फिर पाठकों से स्वयं विचार करने की प्रार्थना करें कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का सिद्धान्त वेदानुकूल है वा नहीं? इस लिये प्रथम वेदमन्त्रों से आरम्भ करते हैं:-

यजुर्वेद अध्याय २

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा। सोमाय पितृमते स्वाहा। अपहता असुरा रक्षाꣳसि वेदिषदः२९

परमेश्वर का उपदेश है कि-(कव्यवाहनाय) कव्य जो कि पितरों का हवि है, उस को पहुंचाने वाले (अग्नये) अग्नि के लिये (स्वाहा) होम करो। (पितृमते) पितरों वाले (सोमाय) सोम=चन्द्रमा के लिये (स्वाहा) होम करो। (वेदिषदः) वेदि वा पृथिवी [शतपथे १। २। ३। ७] के रहने वाले (असुराः) प्राणनाशक (रक्षांसि) दुष्ट प्राणिवर्ग वा पदार्थ (अपहताः) दूर होवें॥

यह कर्मकाण्डपरक सरल अर्थ है, जिस में विना किसी खेंच तान के यह झलकता है कि चन्द्रकिरणें जो ऋतुओं का कारण हैं, उन पितृनामक ऋतुओं के सुखदायक होने के लिये अग्नि में होम करने से सब प्राण और जीवन के विरोधी रोगादि नष्ट होते हैं, शान्ति और सुख मिलता

है। इस लिये यज्ञ के अङ्गभूत पितृयज्ञ के सम्बन्ध में आहुति करनी चाहिये॥ स्मरण रहे कि ऋतु (मौसम) का प्रभाव हम पर वायुद्वारा पड़ता है, इस लिये वायु का वह प्रकारविशेष जो किसी ऋतु को बनाता वा बदलता है, वायुविशेष पितृनामक हुवा॥ शतपथब्राह्मण २।४।२।२४ में भी लिखा है कि-

ऋतवः पितरः

ऋतु (वसन्तादि) पितर कहाती हैं। स्वामी जी महाराज ने अपने भाष्य में भी यह शतपथ ब्राह्मण का वाक्य उद्धृत करके पितृ का अर्थ ऋतु किया है। तथा यह भी कहा है कि-

अयं मन्त्रः श० व्याख्यातः २।३।४।१२-१३

जिस से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी उक्त मन्त्र का शतपथ देख चुके थे और उस के देखने से भी उन का सिद्धान्त मृतकश्राद्ध के विपरीत रहा। चन्द्र=सोम से ऋतुओं का सम्बन्ध जानने के लिये पाठक निम्नलिखित यजुर्वेद के मन्त्रों को देखें:-

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ॥ १४। ६ ॥
नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू ॥ १४। १५॥
इषश्चोर्जश्च शारदावृतू ॥ १४। १६ ॥
सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू ॥ १४। २७॥

अर्थात् ज्येष्ठ और आषाढ़=ग्रीष्म ऋतु हैं। श्रावण भाद्रपद=वर्षा ऋतु हैं। आश्विन कार्त्तिक=शरद् ऋतु हैं। मार्गशिर पौष=हेमन्त ऋतु हैं॥

स्पष्ट है कि ऋतुओं का विभाग चान्द्र मासों पर किया गया है और पालन करना भी चन्द्रकिरणों का काम है। वैद्यक शास्त्र में भी २४ प्रकार की सोम ओषधि के वर्णन में चन्द्रमा का विशेषसम्बन्ध कहागया है। सुश्रुत चिकित्सास्थान अध्याय २९ में—

अंशुमान्मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः।
दूर्वासोमःकनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः॥३॥

इत्यादि अंशुमान् आदि २४ सोमों के नाम बता कर—

अंशुमानाज्यगन्धस्तु—इत्यादि॥ २२॥

घृततुल्य सुगन्धादि सब की पहचान बतलाई हैं और चन्द्रमा से विशेष सम्बन्ध बताते हुवे कहा है कि—

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च॥
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च२०
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत्पञ्चदशच्छदः २१

अर्थात् २४ प्रकारों के सोमों पर १५ पत्र लगते हैं। वे शुक्लपक्ष में प्रति दिन एक २ लगते और कृष्णपक्ष में एक एक करके गिर जाते हैं। चन्द्रमा का पर्व अमावास्या और पूर्णा हैं। इस प्रकार पाठकों ने समझ लिया होगा कि पितृशब्द से जो चन्द्रकिरण संसर्गयुक्त अन्तरिक्ष के

जड़ पदार्थ, जिन का शास्त्रीय नाम तो पितर ही है, परन्तु जिन को हम समझाने के लिये किसी प्रकार के वायुविशेष कह सकते हैं, हमने पूर्व ग्रहण किया था, वह, और अग्नि को आहुति द्वारा उक्त पितरों का कव्य-वाहन होना लिखा था वह, और इस प्रकार के समस्त प्रसङ्गों का अग्नि की आहुतिपरक अर्थ लेना जो हम ने लिखा है, ठीक है ॥

अब दूसरे मन्त्र का कर्मकाण्डपरक सरल अर्थ सुनियेः—

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरोनिपुरोये भरन्त्यऽग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥ ३० ॥

पूर्व मन्त्र के उत्तरार्ध में यह कहा था कि "वेदी वा पृथिवी के रहने वाले प्राणनाशक दुष्ट प्राणिवर्ग वा पदार्थ दूर होवें" अब इस मन्त्र में आगे परमात्मा ने यह बताया है कि अग्नि उन दुष्ट प्राणियों वा पदार्थों को दूर करता है। ज्ञात रहे कि असुर वा रक्षस् शब्द से यहां उन वायु में रहने वाले दुष्ट पदार्थों वा कीड़ों से तात्पर्य है, जो रोगों को उत्पन्न करके प्राणनाश वा मृत्यु का कारण बनते हैं और अग्नि में होम करने से वे दूर होते हैं ॥

मन्त्रार्थः—(ये) जो (असुराः) असुर (रूपाणि) रूपों को (प्रतिमुञ्चमानाः) बदलते (सन्तः) हुवे (स्वधया) अन्न [निघं० २ । ७] के साथ (चरन्ति) वायु में घूमते फिरते हैं और (ये) जो (परापुरः) बुरे शरीरों

को और (निपुरः) निकृष्ट सूक्ष्म दुर्गन्धमय शरीरों को (भरन्ति) धारण करते हैं (तान्) उन सब को (अस्मात् लोकात्) इस लोक से [जहां यज्ञ होता है] (अग्निः) अग्नि (प्रणुदाति) दूर कर देता है ॥

कैसा स्पष्ट वायुगत दुष्ट कीड़ों का वर्णन है कि जिन का रूप शीघ्र २ बदल जाता है, जो बुरे और सूक्ष्म शरीरों वाले हैं और वे अग्नि के तेज से दूर होते हैं । शतपथब्राह्मण २ । ४ । २ । ५ में लिखा है कि असुरों और राक्षसों को परमात्मा ने तमस् अन्धकार वा तमोगुण वस्तु खाने को दी हैं, जिस अन्न=अपनी खुराक के साथ वे घूमते हैं ॥

अथ हैनं शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुः । तेभ्यस्तमश्च मायां च प्रददौ० ॥

तदनुसार विज्ञानवित् लोग जानते हैं कि अन्धियारे में ऐसे दुष्ट वायु के कीड़े बहुत होते हैं और इस लिये मनुष्यों के रहने की कोठरियों में सील और अन्धकार को निवृत्त करने के अर्थ वायु और प्रकाश के आने के लिये द्वारादि रख कर यत्न किया जाता है । ऐसे अन्धकाराच्छन्न घरों में रहने वालों की आयु घटती, रोग बढ़ते हैं, तथा वायु, प्रकाश, अग्नि और सूर्यकिरणादि के प्रभाव से शुद्ध निर्मल स्थानों में रहने वालों को रोगादि कम होते, आयु बढ़ती है । इत्यादि अनेक ऐहिक सुख मिलते हैं । स्वामी जी भाष्य में कहते हैं कि [अयं मन्त्र श० २ । ३ । ४ । १४–१८ व्याख्यातः]

हम पूर्व कह आये हैं कि पितृयज्ञ में दो कार्य सम्मिलित हैं। १–वायु चन्द्रकिरणादि पितृनामक पदार्थों के अनुकूल सुखदायी बनाने के लिये होम करना और २–विद्यमान पिता पितामहादि वृद्धों का अन्न, जल, वस्त्र आदि से सत्कार करना। इन में से होम का उपदेश करने के पश्चात् आगे पिता आदि विद्यमान गुरुजनों का सत्कार कर्त्तव्य है। इस के लिये अगले मन्त्रों में वर्णन है कि–

अत्र पितरोमादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
अमीमदन्त पितरोयथाभागमावृषायिषत ३१

(पितरः) हे पिता आदि गुरुजनो! (अत्र) इस यज्ञ में (मादयध्वम्) हृष्ट हूजिये और (यथाभागम्) अपने २ भाग से (आवृषायध्वम्) सर्वथा तृप्त हूजिये। [जब भोजन कर चुकें तो पूछे कि] (पितरः) हे पिता आदि गुरुजनो! (अमीमदन्त) आप हृष्ट हुवे? (यथाभागम्) स्वस्वभागानुसार (आवृषायिषत) तृप्त हो गये?

स्वामी जी महाराज ने अपने भाष्य में लिखा है कि यह मन्त्र शतपथ २। ३। ४। १९–२३ में व्याख्यात किया गया है। अर्थात् वहां इस का कर्मकाण्ड में विनियोग किया गया है कि यजमान के पिता आदि गुरुजनों को बुला कर अध्वर्यु भोजन करावे और भोजन कर चुकें तो तृप्त होने और प्रसन्न होने का प्रश्न करे कि आप प्रसन्न और तृप्त हुवे? अर्थात् यदि कोई न्यूनता रही हो तो उस की पूर्त्ति की आज्ञा कीजिये। शतपथ २। ४। २। २२ में लिखा है कि–

यथाभागमावृषायिषतेति

यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह ॥

इसी प्रमाण से हमने ऊपर "आवृषायिषत" का अर्थ भोजन कर चुकना लिया है ॥

अब पितृजनों को नमस्कारादि सत्कार का विधान किया जाता है कि:—

नमोवः पितरोरसाय । नमोवः पितरः शोषाय । नमोवः पितरोजीवाय । नमो वः पितरः स्वधायै । नमोवः पितरोघोराय । नमोवः पितरोमन्यवे । नमोवः पितरः पितरोनमोवः । गृहान्नः पितरोदत्त सतोवः पितरोदेष्म । एतद्वः पितरोवास आधत्त॥३२॥

कर्मकाण्डपरक सरलार्थ - हे पितृजनो ! आप को रस= आनन्द के लिये नमस्कार । हे पितृजनो ! आप को दुष्ट शत्रु वा गुणों का शोषण होने के लिये नमस्कार । हे पितृजनो ! आप को जीवन के लिये नमस्कार। हे पितृजनो ! आप को अन्न के लिये नमस्कार । हे पितृजनो! भयानक होने के लिये आप को नमस्कार । हे पितृजनो ! क्रोध के लिये आप को नमस्कार । हे पितृजनो ! आप को नमस्कार है, हे पितृजनो ! आप को नमस्कार है । हे पितृजनो ! हम को घर दीजिये । हे पितृजनो ! जो कुछ

पदार्थ हैं वे आप को हम दें । पितृजनो ! यह आप के लिये वस्त्र है, पहनिये ॥

रसादि छः पदार्थों की प्राप्ति के लिये पितृजनों को प्रणाम किया गया है कि आप के अनुग्रह और उपदेशादि पर चलने से रस, शोष, जीवन, अन्न, पापियों पर घोर स्वभाव और क्रोध हमें प्राप्त हो । फिर आदरार्थ वीप्सा में दो वार प्रणाम किया गया है । फिर घरके स्वामी होने से पितरों से अपने रहने के स्थान की याचना है कि आप ही घर आदि सम्पत्ति के स्वामी हैं, आप कृपया हमें गृहादि दें और हम, जो कुछ हमारे पास हो, उस से आप की सेवा करें ॥

इस मन्त्र का शतपथानुसार यह भी अर्थ है कि छः ऋतुओं का पितर नाम होने से वसन्त को रस, ग्रीष्म को शोषण, वर्षा को जीवन=जल, शरद् को अन्न, हेमन्त को घोर और शिशिर को मृत्यु के लिये आहुतिरूप नमः= अन्न [निघं० २।७] देना चाहिये और ऋतुओं के तुल्य समय २ का आनन्द विद्याधर्मोपदेशादि द्वारा देने वाले पितृजनों को अन्न वस्त्रादि से सत्कृत करना चाहिये ॥

आगे पितृजनों से यह प्रार्थना है कि आप उन पुत्रों को, जो ब्रह्मचर्य पूर्ण करके विधिपूर्वक समावर्त्तितहो, पुष्पमाला धारण करके गृहाश्रम में प्रविष्ट हुवे हैं, धारण कीजिये । जिस से इस कुल में पुरुष हो अर्थात् सन्तति चले । यथा-

आधत्त पितरोगर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् ।
यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ३३ ॥

अब इस का कर्मकाण्डानुकूल सरलार्थ सुनिये-(पितरः) हेपितृजनो ! (कुमारम्) अपने पुत्र को (गर्भम्) अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न औरस पुत्र को (पुष्करस्रजम्) जो पुष्पमाला पहिने अर्थात् समावर्त्तत कराके आया है, उसे (आधत्त) सब प्रकार धारण कीजिये (यथा) जिस प्रकार से कि (इह) इस कुल में (पुरुषः) पुरुष=सन्तति (असत्) होवे ॥

इस मन्त्र का शतपथ ब्राह्मण इस प्रकरण में नहीं मिलता । न जाने क्या कारण है, लुप्त हो गया वा अनावश्यक समझा गया वा क्या हुवा, इस लिये कात्यायन श्रौतसूत्र में जो इस का विनियोग है, वह ब्राह्मण मूलक नहीं है, किन्तु स्वकल्पित है ॥

आगे १ मन्त्र में यह बतलाकर कि पितृजनों की सेवा शुश्रूषा सत्कार के लिये क्या २ अन्न जल दुग्धादि हो, अध्याय और इस पितृयज्ञ को वेद ने समाप्त किया है, वह मन्त्र यह है:—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् । स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥३४॥

कर्मकाण्डानुसारी सरलार्थ-(ऊर्जम्) बल पराक्रम शौर्यादि, (अमृतम्) आयुवर्धक, (घृतम्) घी (पयः) दुग्ध और (परिस्रुतम् कीलालम्) टपकाये हुवे [फ़िलटर्ड] जल को (वहन्तीः) लिये हुवे (स्वधा) अन्न (स्थ) हैं सो (मे) मेरे (पितॄन्) पितृजनों को (तर्पयत) तृप्त करें ॥

इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक पितृयज्ञ को समाप्त करे। यद्यपि आप यहां केवल पितृ शब्द को देखते हैं, परन्तु पालनगुणविशिष्ट माता, दादी, चाची, ताई, गुरुपत्नी आदि भी पितृशब्द के अर्थ में सम्मिलित हैं, इस लिये उन की भी सेवा परिचर्या अन्न जल वस्त्रादि से विधि पूर्वक उपदेश की गई। इस पर भी यहां शतपथ में कुछ व्याख्या नहीं है॥

महाशयो! यह तो केवल मन्त्रार्थ करके जीवित पित्रादि का यजन पूजन सत्कार नाम "पितृयज्ञ" हुआ। आगे शतपथ ब्राह्मणानुसारी पितृयज्ञ को देखिये और यह विचारिये कि उस में कितना वेदाशय को समझ कर तदनुकूल पितृयज्ञ का विधान और व्याख्यान है और साथ ही ऊपर लिखे वेदोक्त पितृयज्ञ को मिलाते जाइये, तथा सायणभाष्य की खेंचतान और पौराणिकता पर भी दृष्टि डालते जाइये॥

ओ३म्

"शतपथ ब्राह्मण का पिण्डपितृयज्ञ"

शतपथ-ब्राह्मण के काण्ड २ प्रपाठक ३ ब्राह्मण ४ की एक से लेकर २४ वीं कण्डिका तक समस्त चतुर्थ ब्राह्मण में पितृयज्ञ का वर्णन है॥

प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन्। प्रजा वै भूतानि। वि नोधेहि यथा जीवामेति। ततो देवा यज्ञोपवीतिनोभूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्तानऽब्रवीद्यज्ञोवोऽन्नममृतत्वं वऊर्ग्वः सूर्यो वोज्योतिरिति॥ १॥ अथैनं

पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्यो-
पासीदंस्तानऽब्रवीन्मासि मासि वोऽशनꣳ
स्वधा वोमनोजवोत्रश्चन्द्रमा वो ज्योति-
रिति ॥ २ ॥ अथैनं मनुष्याः प्रावृता उपस्थं
कृत्वोपासीदंस्तानब्रवीत् सायं प्रातर्वोऽशनं
प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिरिति ॥ ३ ॥
अथैनं पशव उपासीदन् । तेभ्यः स्वैषमेव
चकार—यदैव यूयं कदाच लभध्वै यदि
काले यद्यनाकालेऽथैवाश्नाथेति । तस्मादेते
यदैव कदाच लभन्ते यदि काले यद्यनाका-
लेऽथैवाश्नन्ति ॥ ४ ॥ अथ हैनꣳशश्वद-
प्यसुरा उपसेदुरित्याहुः । तेभ्यस्तमश्न मायां
च प्रददावस्त्यहैवासुरमायेतीव पराभूता ह
त्वेव ताः प्रजास्ता इमाः प्रजास्तथैवोपजी-
वन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिव्यंदधात् ॥ ५ ॥

अर्थात् सम्पूर्ण भूत प्रजापति के पास पहुंचे । भूत, प्रजा=सृष्टि के पदार्थ हैं । उन्होंने कहा कि हम को बताइये जैसे कि हम जीवन=जीविका=भोजन करें । तब देवता यज्ञोपवीती होकर दाहिना घुटना झुका कर उपासीन हुवे । उन से प्रजापति ने कहा कि तुम्हारा अन्न यज्ञ है, तुम अमर हो, तुम को रस प्राप्त हो, तुम्हारे लिये ज्योति (रोशनी) सूर्य हो ॥ १ ॥

फिर पितर प्राचीनावीती होकर बायें घुटने को निवाकर उपासीन हुवे, उन से कहा कि मास मास में तुम्हें भोजन हो, तुम को स्वधा शब्द का प्रयोग करके दिया जाय, मन के समान वेग हो, तुम्हारे लिये चन्द्रमा ज्योति हो॥२॥फिर उस को मनुष्य लोग कपड़ों से ढके पलौथी मारे हुवे उपस्थित हुवे । उन से कहा कि सायं प्रातः तुम्हारा भोजन हेा, सन्तान हेा, मृत्यु भी तुम्हारी हेा, तुम्हारे लिये अग्नि ज्येाति हेा ॥ ३ ॥ फिर उस के पास पशु उपस्थित हुवे । उन के लिये स्वेच्छाचारीपन बताया कि तुम जब कभी पाओ, चाहे समय पर, चाहे असमय पर, तभी खाओ । इस लिये ये पशु समय असमय जब पाते हैं, तभी खाने लगते हैं ॥ ४ ॥ फिर कहते हैं कि उसकी सेवा में निरन्तर (बार बार) असुर भी पहुंचे । उन के लिये तम और माया देदी । और है भी असुरमाया ऐसी कि जिस से सब प्रजा दबती है । अब यह सब प्रजा उसी प्रकार से उपजीवन करती हैं, जैसा कि इन के लिये प्रजापति ने विधान कर दिया है ॥ ५ ॥

यह इतिहास सब लेागों को कुछ ऊटपटांग सा दीखता है । हम को इस का सार लेना है । इसी प्रकार का यक्ष और देवतों का संवाद उपनिषद् में भी आया है कि अग्नि आदि देवतों के सामने यक्ष=परमात्मा ने तिनका रख दिया और उन में से कोई उस को न फूंक सका, न उड़ा सका, न गला सका, न कुछ कर सका । जिस का भावार्थ यही लिया जाता है कि परमात्मा के नियम का उल्लङ्घन करके कोई स्वतन्त्र सामर्थ्य अग्नि आदि में नहीं है । शेष परमात्मा का प्रकट होना, बात चीत

करना, सब अलङ्कार की रीति पर है। ऐसे ही यहां भी परमात्मा प्रजापति का देवों, पितरों, पशुओं, मनुष्यों और असुरों के साथ संवाद कल्पित प्रतीत होता है। यदि कोई यह भ्रम करे कि पितर और देव वा असुर कोई अदृष्ट ही सृष्टि है, यथार्थ में ही कोई संवाद हुवा होगा, सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां पशुओं का भी संवाद लिखा है, जो प्रत्यक्ष सृष्टि है और बात चीत करने में असमर्थ है। इस लिये यही मानना ठीक जान पड़ता है कि इतिहास कल्पितमात्र है। भाव यह है कि परमात्मा के समीप तो सर्वभूत सदा हैं ही, सृष्टि के आरम्भ से ही परमात्मा ने इन २ देवादिकों के लिये भोजन, प्रकाश आदि का ऐसा २ नियम रक्खा है॥

अब आप यह जानना चाहेंगे कि अच्छा इतिहास तो कल्पित सही, पितर देव असुरकि न वस्तुओं का नाम है? उत्तर-देव तो उन्हीं अग्नि वायु सूर्य विजुली जल आदि का नाम है। पितर शब्द यहां वही निरुक्तानुसार विचारे हुवे अन्तरिक्ष लोकस्थ चन्द्रकिरणादि के संसर्गयुक्त ऋतु आदि पदार्थों का नाम है, जिन के अनुकूल रखने के लिये मास मास में अमावास्या पर होमद्वारा पितृयज्ञ करना कहेंगे और स्वधानामक जिन की आहुति है, वही उन का भोजन है। यज्ञोपवीती=सव्य, प्राचीनावीती=अपसव्य इत्यादि भेद का वर्णन कर्मभेद से देवकर्म और पितृकर्म के विशेषचिह्नयुक्त होकर बैठनामात्र दिखलाने के लिये कहे हों तो अनुमान ठीक होता है, अन्यथा (भला अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता०। इत्यादि यजु: १४। २०) ये देवता यज्ञोपवीत का धारण क्या करते!!

यह भी अनुमान है कि यहीं से संकेत पाकर मनु आदि में सव्याऽपसव्यादि का वर्णन किया गया और संस्कार विधि में भी सव्य अपसव्य का वर्णन ऐसे ही लेखों को देख कर हुवा है । परन्तु यह आगे २ आप देखेंगे कि शतपथ में पितृयज्ञ, उस की विधि, पितरों के सत्कार का प्रकार, सब है परन्तु मरों का नहीं, किन्तु जीवतों का और इन दिव्य पदार्थों का है ॥

इस के अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि यह सव्याऽपसव्यादि का लेख कुछ वेदबोधित विधि नहीं है, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ ने वेदबोधित पितृयज्ञ का निरूपण करने के लिये उस से पूर्व एक कल्पित ऐतिहासिक रूपक बांध कर स्वतन्त्र अपनी ओर से इस सव्याऽपसव्यादि का संङ्केत किया है, जिस को हम अनुमान करते हैं कि यह देवपितृकार्यादि यज्ञकार्यों का व्यवहार (एटिकेट) मात्र था । इस पर धर्मसम्बन्धी विधि वचनों के समान बल लगाना हमारी सम्मति में आवश्यक नहीं । और स्वामी जी महाराज भी ऐसी बातों को अवश्यकर्त्तव्यता में सम्मिलित न करते थे । उन के भूमिका के लेख से प्रकट है कि यज्ञ में प्रणीता प्रोक्षणी आदि पात्रविशेषों के स्थापन को लिख दिया है कि जहां २ जिस २ का उपयोग हो, वहां २ रक्खे, किन्तु कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में लिखे क्रम से रखना उत्तम है । परन्तु यह भ्रम न रखना चाहिये कि प्रणीतादि को ऐसे रखने में पुण्य और वैसे रखने में पाप चढ़ेगा । किन्तु आवश्यकतानुसार कर सकते हैं। इसी प्रकार सव्य व्यपसव्य निवीतीही

कर बैठना वा बायां और दाहिना घुटना झुका कर बैठना वा पलौथी लगाकर बैठना आदि पितृकार्य देवकार्यादि भेद से याज्ञिक लोगों का प्राचीन व्यवहार (एटिकेट) क्रम था॥

वायु आदि देवों का अन्न यज्ञ है। क्योंकि यज्ञ द्वारा उन्हें आहुतिरूप भोजन मिलता है। वायु आदि देव अमर हैं। वे मनुष्यादि के समान मरणधर्मा (जड़ चेतन के संयोग से बने) नहीं हैं। वायु आदि देवों को रसरूप ही हुत द्रव्य प्राप्त होते हैं। द्युलोकभर में सूर्य ज्योति है॥

अग्नि होमादि यज्ञ विशेषों में दिखलाने के लिये गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियों के उपस्थान, सायंकालीन अग्नि उपस्थान, लघूपस्थान की रीति बताते हुवे पितृयज्ञ की पद्धति बताने के लिये अमावास्या में पितृयज्ञ कहने के लिये यह अवतरणिका में भी सूचित किया है कि मास मास में तुम्हारा अन्न है। इस से नित्य (रोज़ २) के पितृसेवारूप पितृयज्ञ का निषेध नहीं आता, किन्तु जिस प्रकार विवाह के विशेष दिन में स्त्री अपने पति का मधुपर्क अर्घ्य पाद्य आचमनीयादि दान से सत्कार करती है, वह मन्त्रपूर्वक समय विशेष में नियतकाल में करती है, सो विहितकर्मानुष्ठान कर्मकाण्ड का एक विधिबद्ध अङ्ग है और वैसे नित्य भी अर्घ्य पाद्य जल भोजनादि से स्त्री, पुरुष का सत्कार करती ही रहती है, उस का निषेध नहीं हो जाता है। वा चूड़ा कर्म में मन्त्रपूर्वक क्षौर कराया जाता है, वह विधिबद्ध है, फिर सदा क्षौर कराते ही रहते हैं। इसी प्रकार अन्य संस्कारों की भी दशा है। वेदारम्भ में गायत्रीमन्त्रोपदेश एक विशेषनियम

पूर्वक है और फिर नित्य २ छात्र वेद पढ़ता ही रहेगा। इसी प्रकार यज्ञ की नियत तिथियों में किसी तिथि में कोई और किसी तिथि में कोई कर्म करते २ समयविभागानुसार (प्रोग्राम से) अमावास्या में पितृयज्ञ का नियम करना इष्ट है। यह भी संकेत है कि यज्ञ में जो विद्यमान पिता आदि को अन्न परोसा जावे वह "स्वधा" शब्द कहकर दिया जावे। स्वधा अन्न का नाम निघण्टु २।७ में लिखा है। ऋतु आदि पितृसंज्ञक पदार्थ मन के से वेगवान् हैं इसी से ऋतु बदलते ही घटपटादि पदार्थों और सब प्राणियों पर शीघ्र उन का प्रभाव हो जाता है। चन्द्रमा की ज्योति से वे ऋतु आदि पितृसंज्ञकपदार्थ आप्यायित और प्रकाशित होते हैं। आगे जो पितृयज्ञ कहेंगे सो इन्हीं आकाशीय पदार्थों का यजन और विद्यमान पिता पितामहादि का सत्कार कहेंगे। मृतक का वहां नाम भी न आवेगा॥

असुरों के अन्धकार और माया का व्याख्यान श्री स्वामी जी ने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० ३०६ से ३१० तक लिखा है। वहां देवासुरसंग्राम का मूल दिखाते हुवे शतपथ १३। ३। ९। १ निरुक्त ३।८ और १०। ३४, फिर शतपथ ११। १। १६। ७–१२ और १। ७। ५। २२ तथा १४। ३। ४। १,४ तथा १०। ५। ६। २० और ६। २। ३। १५ और ६। ६। ४। ६ और ३। ७। ६। १० तथा १। १। १४, । ५, ७ के अनेक प्रमाणों से रात्रि दिन, अन्धकार प्रकाश, मूर्ख विद्वान् आदि की असुर और देवसंज्ञा क्रम से लिखीं हैं॥

इस के आगे प्रसंगवश यह भी कह दिया है कि–

नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरो, न पशवो; मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यत्यशुभे मेद्यति विहूर्छति हि नह्यृतायं च न भवत्यनृतꣳहि कृत्वा मेद्यति। तस्मादु सायं प्रातराश्येव स्यात्। स यो हैवं विद्वान्त्सायं प्रातराशी भवति, सर्वꣳहैवायुरेति, यदु ह किञ्च वाचा व्याहरति तदु हैव भवत्येतद्धि देवसत्यं गोपायति तद्धैतत्तेजो नाम ब्राह्मणं य एतस्य व्रतꣳशक्नोति चरितुम् ६

पूर्वोक्त परमात्मा के नियम का, न देवता उल्लङ्घन करते, न पितर, न पशु; सब नियमानुसार रहते हैं, केवल मनुष्य ही उल्लङ्घन करते हैं, मनुष्यों में जिसे देखो, अशुभ=पाप में मग्न है । कुटिलता करता है । झूंठ बोलता है । फिर मग्न होता है । इस लिये मनुष्य को सायं प्रातः दो काल भोजन का नियम रखना चाहिये क्योंकि परमात्मा ने यह इस के लिये स्वभावानुकूल नियत किया है । यह जानते हुवे जो नियमानुकूल भोजनादि व्यवहार रखते हैं, पूर्ण आयु पाते हैं। और सत्य ही बोलते हैं, वे जो कहते हैं सो होता है अर्थात् कहना करना एकसा होता है । जो कि परमात्मा देव के निर्दिष्ट सत्य की रक्षा करता है, इस से उसे ब्रह्मतेज प्राप्त होता है, परन्तु जो इस सत्य के व्रत को पूर्ण कर सके ॥ ६ ॥

आगे शतपथ में पितृ यज्ञ का प्रसङ्ग फिर चलाया है कि-

तद्वा एतत्–मासि मास्येव पितृभ्योददतो यदैवैष न पुरस्तान्न पश्चाद्दृशेऽथैभ्योददा-त्येष वै सोमोराजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स एतां रात्रिं क्षीयते तस्मिन्क्षीणे ददाति तथै-भ्योऽसमदं करोत्यऽथ यदऽक्षीणे दद्यात्समद-दꣳ हकुर्यादेवेभ्यश्च पितृभ्यश्च। तस्मादेवैष न पुरस्तान्न पश्चाद्दृशेऽथैभ्योददाति ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम्–

जीवतांहिमनुष्याणांसायंप्रातरशनं विहितं मरणादूर्ध्वं वस्वादि रूपपितृभावं (!) प्राप्तेभ्यस्तेभ्यः मासि मास्येव-पितृयज्ञरूपमशनं दातव्यम्ꣳ इत्यादि ॥

देखिये सायणाचार्य क्या धिंगड़ई करते हैं। जो बात मूल शतपथ में पते को भी नहीं उसे अकारण घुसेड़ते हैं कि "जीवते मनुष्यों ही का भोजन सायं प्रातः दो काल विधान किया गया है, परन्तु मरण के पश्चात् जब वे मनुष्य वसु रुद्र आदित्यरूप पितृभाव को प्राप्त होगये हों, तब उनको प्रतिमास अन्न देना चाहिये "

पूर्वोक्त शतपथ ब्राह्मण की कल्पित कथा में तो देव पितृ मनुष्य पशु और असुर; ये पृथक् २ दैवी सृष्टि के पदार्थ थे, यहां सायणाचार्य कहते हैं कि मनुष्य ही मर कर वसु आदि पितृ बन जाते हैं। दूसरा आश्चर्य यह है कि ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ अशनि, १ अध्यर्ष,

ये ३३ तौ देवता हैं, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण १४। ६। ७।३-१० में लिखा है। परन्तु यहां इन्हें पितृसंज्ञक बताते हैं। तीसरा आश्चर्य यह है कि ८ वसु तौ शतपथ १४। ६। ७। ४ के अनुसार अग्नि पृथिवी वायु अन्तरिक्ष आदित्य द्यौः चन्द्रमा और नक्षत्र, इन ८ जड़ पदार्थों का नाम है। क्या मर कर मनुष्यों के आत्मा इन जड़ पदार्थों में परिणत हो जाते हैं? इसी प्रकार रुद्र भी प्राण अपानादि वायुओं का नाम है (शत० १४। ६। ७। ५ और हमारा वैदिक देवपूजा निबन्ध देखिये) वहां आदित्य भी १२ मासों के नाम हैं। (श० १४। ६। ७। ६) चौथे कुछ हम ही इस सायणभाष्य पर आश्चर्य नहीं करते किन्तु वेबर साहब जिन्होंने इस सायणभाष्य का (एडीशन) सम्पादन करके बर्लिन में मुद्रण किया है वे भी [पितृभावं (!) इस प्रकार यह (!) आश्चर्य का चिन्ह इस पर लगाते हैं॥

मूल शतपथ में (ददतः) यह द्विवचनान्त क्रिया है, परन्तु सायणाचार्य (दातव्यम्) अर्थ करके (ददतः) के कर्त्ता जो दो होने चाहियें, उन का पता भी नहीं बताते। जो आधुनिक लोग इस पर टिप्पण चढ़ा कर मृतकश्राद्ध के पोषक हैं, उन में से एक महाशय यह अर्थ करते हैं कि—

" पूर्व कहे देव और मनुष्य—पितृयों को अन्न देवें वा देते हैं" परन्तु पूर्व कहे देव तौ अमर थे, वे मरते ही नहीं। तब उन में से कोई पितृभाव को क्या प्राप्त हो। दूसरे शतपथ में ही कहेंगे कि " पितृदैवत्यो वै सोमः " चन्द्रमा के देवता=दिव्यगुण वा प्रभाव पितर हैं। और

चन्द्रमा देवों का अन्न=भक्ष्य है। (देखो ऊपर शतपथ का पाठ=सोमोराजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः) तब भला अपने भक्ष्य पितृदैवत्य सोम को देव खावेंगे वा पितृयज्ञ द्वारा पिण्ड वा अन्न देवेंगे ? इस लिये 'देव भी पिण्डपितृ यज्ञ करते हैं' यह मानना ठीक नहीं बनता। इस लिये इस शतपथ का यह अर्थ उचित जान पड़ता है कि—

"पूर्वोक्त का सार यह है कि प्रतिमास ही पितरों को (यजमान और अध्वर्यु दोनों वा यजमान और उस की पत्नी) देते हैं अर्थात् आहुति द्वारा दिव्य पितृसंज्ञक पदार्थों का आप्यायन और भोजन द्वारा विद्यमान पितृ जनों को अन्न देकर सेवा करते हैं ॥" अब पितृयज्ञ की तिथि नियत करने को कहा है कि " जब यह (चन्द्रमा) न पूर्व में और न पश्चिम में देखा जाता हो तब (पितृ यज्ञसम्बन्धी चरु) इन (पितरों) को देता है। क्योंकि यह सोम राजा जो कि चन्द्रमा है, देवों का अन्न है। वह इस (अमावास्या की) रात्रि को क्षीण होता है, उस के क्षीण होने पर देता है। ऐसा करता हुवा इन (देवों और पितरों) के लिये [समद] समान हर्ष वा तुष्टि नहीं करता। यदि क्षीण न होते हुवे देवे तो देवों और पितरों के लिये ' समद ' करे। इस कारण जब यह (चन्द्रमा) न पूर्व में और न पश्चिम में दीखे, तब इन (पितरों) को देता है " ॥ ७ ॥

यद्यपि सायणाचार्य ने समद का अर्थ कलह=लड़ाई किया है, परन्तु हम को इस अलङ्कार में कुछ लड़ाई की सङ्गति घटती हुई भले प्रकार नहीं जंची, इस लिये हमने

समानतुष्टि वा हर्ष अर्थ किया है जो धात्वर्थ से भी अधिक सङ्गत है और पितृदैवत्य सोम की क्षीणता=दुर्बलता में दुर्बल का पक्ष करना उसी को विशेष देना न्यायानुकूल भी सङ्गत है ॥

सोम को देवतों का अन्न कहने से यह भी पाया जाता है कि जैसा हम पूर्व वर्णन में लिख चुके हैं कि पितर पालन करने वाले और देव संसार से निवृत्त करने वाले पदार्थों का नाम है, तदनुसार जैसे देव-पृथिवी के चेतनाऽचेतन जगत् को वृद्ध करते जीर्ण करते हैं, वैसे पितृदैवत्य सोम को भी खाते हैं और सोम भी दैवप्रभाव से पुराना जीर्ण होता जाता है और यही क्रम २ से होने वाली जीर्णता जैसे मनुष्यादि वा घटपटादि पदार्थों के ध्वंस का कारण होती है, ऐसे ही चन्द्रादि लोकों के प्रलय का कारण हो सकती है ॥

स वा अपराह्णे ददाति। पूर्वाह्णो वै देवानां, मध्यंदिनो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणां, तस्मादऽपराह्णे ददाति ॥ ८ ॥

७ वीं कण्डिका में यज्ञान्तर्गत पितृयज्ञ की तिथि नियत करके इस ८ वीं में काल को नियत करने के लिये कहा जाता है कि "वह अपराह्ण=दिन के तीसरे भाग में देता है। क्योंकि देवयज्ञ का पूर्वाह्ण, मनुष्ययज्ञ का मध्याह्न और पितृयज्ञ का अपराह्ण काल है, इस लिये अपराह्ण में देता है ॥ ८ ॥

यहां दिन की ३० घड़ियों में से प्रथम १० घड़ी पूर्वाह्ण, ११ वीं से २० वीं तक द्वितीय १० घड़ी मध्याह्न और २१ वीं

से तीसवीं तक तीसरी १० घड़ी का नाम अपराह्ण जानिये। माधव का मत यह है कि दिन की ३० घड़ी में से छः छः घड़ियों के पांच भाग करके चतुर्थ भाग अर्थात् १९ वीं से २४ वीं घड़ी तक ६ घड़ीयों को अपराह्ण कहते हैं। याज्ञिक देव का यह मत है कि दिन की ३० घड़ियों में से दो भाग करके १६ वीं से ३० वीं तक १५ घड़ी दोपहर पीछे की अपराह्ण कहाती हैं॥

स जघनेन गार्हपत्यं प्राचीनावीति भूत्वा दक्षिणासीन एतं गृह्णाति। स ततएवोत्थाय उत्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणातिष्ठन्नवहन्ति। सकृत्फलीकरोति सकृदुह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृत्फलीकरोति॥९॥ तꣳश्रपयति। तस्मिन्नधिश्रितआज्य प्रत्यानयत्यग्नौ वै देवेभ्योजुहूत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैव पितृणां तस्मादधिश्रित आज्यं प्रत्यानयति॥१०॥ स उद्वास्याग्नौ द्वेआहुती जुहोति देवेभ्यः। देवान्वाएषउपावर्त्तते य आहिताग्निर्भवति योदर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत्पितृयज्ञेनेवाचारीत्तदु देवेभ्योनिन्हुते स देवैः प्रसूतोऽथैतत्पितृभ्योददाति तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वे आहुती जुहोति देवेभ्यः॥११॥ स वा

अग्नये च सोमाय च जुहोति । स यदग्नये जुहोति सर्वत्र ह्येवाग्निरन्वाभक्तोऽथ यत्सोमाय जुहोति पितृदेवत्योवै सोमस्तस्मादग्नये च सोमाय च जुहोति ॥ १२ ॥ स जुहोति । अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा । सोमाय पितृमते स्वाहा [यजु० २ । २९] इति । अथ मेक्षणमभ्यादधाति तत्स्विष्टकृद्भाजनमथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं सकृदुल्लिखति तद्वैदिभाजनꣳ सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्सकृदुल्लिखति ॥ १३ ॥

अर्थ—वह (अध्वर्यु) गार्हपत्याऽग्नि से पश्चिम की ओर दक्षिणाभिमुख बैठा हुवा इस (हविष्यान्न) को लेता है। वह वहीं से उठ कर अन्वाहार्यपचन से उत्तर की ओर दक्षिणाभिमुख खड़ा हुवा कूटा करता है। एक वार फटकता है क्योंकि पितर एक वार ही बाहर चले जाया करते हैं (वानप्रस्थादि आश्रम के विचार से) ॥ ९ ॥ उस को पकाया करता है और पक जाने पर घी मिलाया करता है। देवों के लिये (घी) अग्नि में छोड़ते हैं, मनुष्यों के लिये ऊपर से (भोजनपात्र में) परोसते हैं और पितरों के लिये पक जाने पर (चरु में) छोड़ा करते हैं (ऐसी रीति है) इस कारण पक जाने पर घी मिलाया

करता है ॥१०॥ वह (अध्वर्यु अग्नि से चरु को) उतार कर अग्नि में दो आहुति (पितृत्वयुक्त) देवतों के लिये होम किया करता है। क्योंकि जो आहिताग्नि होता है वा जो दर्शपूर्णमासों से यजन करता है वह देवों का समीपवर्ती (पड़ौसी) हो जाताहै। यदि वह (आहिताग्नि वा दर्शपूर्णमासयाजी) पितृजनों को ही भोजनादि करावे (पितृत्वविशिष्टदेवों का यजन न करे) तौ मानो दैवतों का बुरा बने। और वह देवतों (दिव्यपितृत्व गुणविशिष्ट वायुआदिकों) से उत्पन्न हुवा है तब पितृजनों को देता है, इस कारण (देवतों का ऋणी होने से) उतार कर (पहले) दो आहुति देवों के निमित्त देता है ॥११॥ वह अग्नि और सोम के लिये होम करता है। अग्नि के लिये इस कारण कि अग्नि सब जगह ही साथ लगा है (अतः पितृयज्ञ में भी)। और सोम को इस लिये आहुति देता है कि सोम पितृदैवत्य अर्थात् पितृत्वविशिष्ट=पालन पोषण वा पुष्टि विशेषकर करता है। इस लिये अग्नि और सोम के लिये आहुति देता है ॥१२॥ वह आहुति देता है कि " अग्नये कव्यवानाय स्वाहा " =अग्नि जो कि कव्य (पित्रन्न) का पहुंचाने वाला है उसके लिये होम है। "सोमाय पितृमते स्वाहा"=सोम जो कि पितृमान् है=जिस में पितृत्व अधिकांश है उस के लिये होम है (यजुः २। २९)। फिर अग्नि में मेक्षण नामक पात्र का होम करदेता है। वह (इस पितृदैवत्य होम के) स्विष्टकृद्धोम की जगह जानो। अब दक्षिणाग्नि से दक्षिण की ओर एक वार रेखा कर देता है। यह (रेखा पितृजनों के भोजन कराने की) वेदी की

जगह है । क्योंकि पितृजन एक ही वार वास्त्यवृत्ति=गृह त्यागपूर्वक वनस्थादि वृत्ति वाले होजाया करते हैं, अतः (पितृयज्ञ में) एक ही रेखा किया करता है ॥ १३ ॥

विशेष—आप देखते हैं कि ऊपर लिखे शतपथ में यह सब व्याख्यान अपनी (शतपथकार की) रचना है । मूल वेदमन्त्र के विनियोग में तो केवल दो आहुति मात्र हैं। और हम को अपनी सम्मति तो सब से पीछे लिखनी है जिस में दिखायेंगे कि इस ब्राह्मण और वक्ष्यमाण श्रौत सूत्र की किन अंशों में वैदिकता अर्थात् वेदव्याख्यान-भूतता है और किन में नहीं । परन्तु और भी आप हमारे पूर्व (पृष्ठ ४४ से ५२ तक में) लिखे वेदमन्त्रों के पितृयज्ञ से इसे मिलाते चलिये ॥

अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति । स यद्-निधायोल्मुकमथैतत्पितृभ्यो दद्यादसुररक्ष-सानि हैषामेतद्द्विमथनोरंस्तथोहैतत्पितृणा-मसुररक्षसानि न विमथ्नते तस्मात्परस्ता-दुल्मुकं निदधाति ॥ १४ ॥ स निदधाति—ये रूपाणि प्रतितुञ्जमाना असुराःसन्त स्वधया चरन्ति । परा पुरो नि पुरोये भरन्त्यग्नि-ष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मादित्यग्निर्हि रक्षसा-मपहन्ता तस्मादेवं निदधाति ॥१५॥ अथो-दपात्रमादायावनेजयति । असावत्रवनेनिक्ष्व-त्येव यजमानस्य पितरमसावत्रवनेनिक्ष्वेति

पितामहमसावबनेनिक्षवेति प्रपितामहं तद्-
थाऽशिष्यतेऽभिषिञ्चेदेवं तत् ॥ १६ ॥ अथ
सकृदाच्छिन्नान्युपमूलं दिनानि भवन्ति ।
अग्निमिव वै देवानां मध्यमिव मनुष्याणां
मूलमिव पितृणां तस्मादुपमूलं दिनानि
भवन्ति सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति सकृदु ह्येव
पराञ्चः पितरस्तस्मात् सकृदाच्छिन्नानि
भवन्ति ॥ १७ ॥ तानि दक्षिणोपस्तृणाति ।
तत्र ददाति सवाऽइति ददातीव वै देवेभ्यो
जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैवं पितृणां तस्मा-
दिति ददाति ॥ १८ ॥

अर्थ—" फिर आगे जलती हुई बत्ती रक्खा करता है । वह जो कि जलती बत्ती न रख कर पितृजनों को (भोजन) देवे, उन के उस (भोजन) को असुर और राक्षस बिगाड़ देवें और ऐसा करने (जलती बत्ती रखने) से पितरों के (भोजन को) असुर राक्षस नहीं बिगाड़ते, इस कारण से आगे उल्मुक (बत्ती) रखते हैं ॥ १५ ॥ वह (अध्वर्यु बत्ती को) रखता है और यह मन्त्र पढ़ता है कि—" ये रूपाणि प्रतिमुञ्च० " (यजुः २ । ३० अर्थ इस का पृष्ठ ४७ और ४८ में पीछे लिख आये हैं) क्योंकि अग्नि राक्षसों का नाशक है इस लिये इस प्रकार (अग्नि के सामर्थ्य का द्योतक मन्त्र पढ़ कर) रखता

है ॥१५॥ फिर जलपात्र लेकर अवनेजन (शुद्धि) कराता है। "आप (इस के स्थान में नाम लेकर) शुद्धि कर लीजिये" यह कहकर यजमान के पिता को, इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह को शुद्धि कराता है। इस शुद्धि का प्रकार ऐसा होना चाहिये, जैसा कि भोजन करने से पूर्व पादप्रक्षालनादि कराया करते हैं ॥ १६ ॥ फिर एक वार काटे हुवे जड़ (मूल) के समीप से कटे हुवे (कुशासन) हुवा करते हैं। देवों के कुशासन अग्रभाग में (कटे कुशों से निर्मित), साधारण मनुष्यों के मध्य में कटे कुशों से निर्मित और पितृजनों के मूल से कटे कुशों से निर्मित आसन बनाने की रीति है, इस कारण से (यहां पिण्डपितृयज्ञ में) उपमूल कुशास्तरण (बिछौना) किये जाते हैं। एक वार काटे हुवे हुवा करते हैं क्योंकि पितृलोग एक ही वार (गृहाश्रमादि से) बहिर्गत हो जाते हैं। इस से एक वार कटे कुश (आसन) हुवा करते हैं ॥१७॥ उन्हें दक्षिण दिशा में बिछाता है। वहां दिया करता है। वह इस प्रकार देता है क्योंकि देवों के लिये होम करते हैं, साधारण मनुष्यों के लिये (नृयज्ञ में) परोसा करते हैं और इसी प्रकार पितृजनों के लिये। इस कारण पितरों को दिया करता है ॥ १८ ॥

पं० भीमसेन जी ने (उपमूलं दिनानि) का अर्थ किया है कि " दिन का मूल रात्रि के समीप थोड़ा दिन रहे पितरों को देने का समय होता है ॥ "

धन्य हो ! कर्मकाण्ड के मर्म जानने का गर्व इसी पर उफनता है। "पहिले कोई कर्मकाण्ड के ग्रन्थ देखे, पढ़े

जानकारी प्राप्त करे, तब मुझ से शास्त्रार्थ वा विचार करे" इत्यादि लम्बी चौड़ी शेखियां इसी पाण्डित्य पर की जाती हैं। यहां " दिनानि " का अर्थ दिन समझ बैठे, यह भी न शोचा कि यहां " आच्छिन्नानि " इत्यादि समीप के पद बतला रहे हैं कि दिनानि पद कुशों के लिये आया है और बहुवचन है और उपमूलंदिनानि=जड़ के समीप से कटे हुवे अर्थ है, "दो" अवखण्डने धातु का प्रयोग यहां यौगिकार्थ में है। भला खैर दिन का अर्थ दिवस ही लिया था तो दिवस का मूल सायंकाल है वा प्रातःकाल ? हम फिर सम्मति देते हैं कि अभी तो समाज की विपरीतता में थोड़ा ही काल व्यतीत हुवा है, अभी से अगाड़ी पिछाड़ी भूलने लगे, कुछ शोच समझ कर लिखा कीजियेगा। यदि आप का ध्यान "दिनादि" पद के अर्थ पर स्वयं न पहुंचा था तो सायणाचार्य के भाष्य में ही देख लेते कि–

"उपमूलंमूलसमीपेदिनानिखण्डितानिबर्हींषि

" जड़ की ओर से दिन=कटे हुवे कुश तृण "

इस ऊपर के शतपथ में भी उल्मुक=जलती बत्ती रखने मात्र में (ये रूपाणि०) मन्त्र का विनियोग कहा है, जिस का अर्थ पूर्व लिख आये हैं। दक्षिण देश में अब भी प्रचार है कि ब्रह्मभोजादि के समय धूप की जलती बत्ती भोजन करने वालों के सामने एक मृत्पात्रविशेष में लगाकर रखते हैं, ऐसा ही प्रकार यह है। इस से शुद्ध स्वच्छ हलके पवित्र धूम से वहां के असुरादि अदृश्य जन्तु जिन के पड़ने से भोजन बिगड़ता है, दूर हो जाते हैं।

अन्य रीति, सम्प्रदाय वा कल्पना शतपथकार की निज की है, उस में वेदमन्त्र का विनियोग नहीं दिखाया है। अब भोजन परोसने का वर्णन आगे करते हैं–

स ददाति । असावेनत्त इत्येव यजमानस्य पित्रे । ये च त्वामन्वित्यु हैकआहुस्तदु तथा न ब्रूयात्स्वयं वै तेषाꣳसह येषाꣳसह तस्मादु ब्रूयादसावेनत्त इत्येव यजमानस्य पित्रेऽसावेनत्त इति पितामहायाऽसावेनत्त इति प्रपितामहाय तदादितः पराग्ददाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः॥१९॥तत्र जपति । अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाह ॥२०॥ अथ पराङ्पर्यावर्त्तते । तिर इव वै पितरोमनुष्येभ्यस्तिर इवैतद्भवति स वा आतमितोरास्तेत्याहुरेतावान्ह्यसुरिति स वै मुहूर्त्तमेवासित्वा ॥२१॥ अथोपपल्ययस्य जपति । अमीमदन्त पितरोयथाभागमावृषायिषतेति यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह ॥२२॥ अथोदपात्रमादायावनेजयति। असाववनेनिक्ष्वेति यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेतिप्रपितामहंतदयाजक्षुषेभिषि-

ज्ञेदेवं तत् ॥ २३ ॥ अथ नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या वै नीविस्तस्माद्धी-विमुद्वृह्य नमस्करोति । यज्ञो वै नमोयज्ञियानेवैनानेतत्करोति । षट्कृत्वो नमस्करोति षड् वा ऋतवः ऋतवः पितरस्तस्मात् षट्कृत्वो नमस्करोति । गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणाथेह पितरर्ईशत एषो एतस्याशीः कर्मणोऽथावजिघ्रति प्रत्यवधाय पिण्डान् स यजमानभागोऽग्नौ सकृदाच्छिन्नान्यभ्यादधाति पुनरुल्मुकमपि सृजति ॥ २४ ॥ ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥ [४ । २] ॥

अर्थ–" यह आप के लिये है " ऐसा कह कर वह अध्वर्यु) यजमान के पिता को देता है । किन्हीं का मत है कि "और जो आप के साथी हों" ऐसा कह कर (अनुचरवर्ग को दे, परन्तु शतपथकार अपना मत कहते हैं कि) ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि स्वयं ही जो जिस के साथ है, उस के साथ (भोजन करेगा, किन्तु अनुचरवर्ग को सम्बोधन करने की आवश्यकता नहीं) इस लिये केवल इतना ही कहना चाहिये कि " अमुक शर्मन् ! (इत्यादि) यह आप के लिये है " इस प्रकार यजमान के पिता को, इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह को । सो इस क्रम से पराक् (अर्थात् प्रथम

पिता, फिर पितामह और फिर प्रपितामह के लिये) दिया करता है। क्योंकि इसी क्रम से पितर (पिता, पितामह, प्रपितामह) एक २ वार दूर होते जाते हैं। वहां कहता है कि " इस यज्ञ में हे पितृजनो ! प्रसन्न हूजिये और भागानुसार भोजन कीजिये " यह तात्पर्य (मन्त्र २। ३१ के पूर्वार्ध का) है ॥ २० ॥ फिर (भोजन कराने वाला अध्वर्यु) हट कर बैठ जाता है। साधारण मनुष्यों के आतिथ्य सत्कार से पितृजनों के यजन की यह विभिन्न रीति है कि उन के सामने (परोसने वाला) डटा हुवा खड़ा व बैठा न रहे किन्तु तिरछा होकर बैठे। वह ग्लानि अर्थात् तृप्तिपर्यन्त बैठा रहे, ऐसा (आचार्य लोग) कहते हैं। यह अनुमान करता रहे कि बस इतना प्राण (भोजन का सामर्थ्य) है। फिर वह मुहूर्त भर बैठ कर ॥ २१ ॥ अनन्तर समीप जाकर कहा करता है कि " पितृजनो ! आप प्रसन्न हुवे ? भागानुसार भोजन कर चुके ? " यह तात्पर्य (मन्त्र २। ३१ के उत्तरार्ध का) है ॥२२॥ फिर जलपात्र लेकर मुखप्रक्षालन कुल्ला आदि की शुद्धि (प्रत्यवनेजन) कराया करता है। "अमुक शर्मन् ! (इत्यादि) शुद्धि कीजिये" ऐसा कह कर यजमान के पिता की, इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह को, इस ढङ्ग से प्रत्यवनेजन करावे जैसा कि भोजनोपरान्त की रीति है ॥२३॥ फिर धोती की नीवि (सिरा) जिस के देवता पितर हैं उठा कर नमस्कार किया करता है। यज्ञ का नाम नमस्कार है, यह इन यज्ञसम्बन्धियों को ही करता है। छः वार नमस्कार किया

करता है क्योंकि ऋतु छः हैं और ऋतु पितृसंज्ञक हैं। अतः छः वार उस २ ऋतु के अनुकूलगुणधारी पितृजनों को नमस्कार किया करता है। "पितृजनों ! हम को घर दीजिये" क्योंकि घरों के स्वामी पितृजन हैं यह इस (पितृयज्ञ) कर्म की प्रार्थना है। फिर (बचे) पिण्डों (भोजनभागों) को मंगवाकर सुगन्ध ले। यह (शेष पिण्ड) यजमान का भाग है (अर्थात् यजमान के खाने योग्य है)। कुशासन जो एक वार कटे कुश हैं, उन को अग्निकुण्ड में रखदेता है और फिर उस बत्ती को भी अग्नि में छोड़ देता है॥

यह शतपथ ब्राह्मणोक्तपिण्डपितृयज्ञ है। जिस में नाम को भी मृत पितरों का उद्देश नहीं आता, किन्तु जल से हाथ पांव धुला कर विधिवत् भोजन कराने का निर्देश है॥

अब कात्यायन का पिण्डपितृयज्ञ लिखते हैं, सो देखिये और फिर वेद ब्राह्मण सूत्र तीनों के पितृयज्ञों में क्या २ भेद और अन्तर है तथा ब्राह्मण और सूत्र में कितना वेदोक्त मन्त्रों का यथार्थ विनियोग है और कितनी निज कल्पना है, इस पर हम अपनी संमति लिख कर पाठकों से भी विचार की प्रार्थना करेंगे कि "मृतकश्राद्ध वेदोक्त नहीं है" यह भली भांति समझ लीजिये॥

कात्यायन श्रौतसूत्र का पिण्डपितृयज्ञ

——:():-*-:():——

अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञश्चान्द्रऽदर्शने ऽमावास्यायाम्॥ १॥ दक्षिणाग्नौ श्रपणम्

॥ २ ॥ होमश्च ॥ ३ ॥ परिस्तीर्य तं पूर्ववत् पात्रासादनमेकशः ॥ ४ ॥ अपरेण गार्हपत्यं चरुमपूर्णꣳ स्रुचं वा तूष्णीं गृहीत्वोत्तरेण दक्षिणाग्निमवहन्ति तिष्ठन् ॥ ५ ॥ सकृत्फलीकरोति ॥६॥ सारतण्डुलमपूर्णꣳ स्रपयित्वाभिघार्योद्वास्य मेक्षणेन जुहोत्यग्नय इति सोमायेति च ॥ ७ ॥ प्रास्य तद्दक्षिणेनोल्लिखत्यपहता इत्यपरेण वा ॥ ८ ॥ उल्मुकं परस्तात्करोति ये रूपाणीति ॥ ९ ॥ उदपात्रेणावनेजयत्यपसव्यꣳसव्येन वोद्धरणसामर्थ्यादसाववनेनिक्ष्वेति यजमानस्य पितृप्रभृति त्रीन् ॥ १० ॥ उपमूलꣳ सकृदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा यथावनिक्तं पिण्डान्ददात्यसावेतत्त इति ॥ ११ ॥ ये च त्वामन्विति चैके ॥ १२ ॥ अत्र पितरइत्युक्त्वोदङ्मुखास्त आतमनात् ॥ १३ ॥ आवृत्यामीमदन्तेति जपति ॥१४॥ अवनेज्य पूर्ववन्नीविं विस्रꣳस्य नमोव इत्यञ्जलिं करोति ॥ १५ ॥ एतद्वइत्युपास्यति सूत्राणि प्रतिपिण्डम् ॥ १६ ॥ ऊर्णादशा वा ॥ १७ ॥ वयस्युत्तरे यजमान-

लोमानि वा ॥१८॥ ऊर्जमित्यपो निषिञ्चति ॥१९॥ अवधायावजिघ्रति यजमानः ॥ २० ॥ उल्मुकसकृदाच्छिन्नान्यग्नौ ॥२१॥ आधत्तेति मध्यमपिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामा ॥२२॥

(४ । १३ । १–२२)

अर्थ–अमावास्या को चन्द्रमा के अदर्शन के दिन अपराह्ण काल (दोपहर पीछे) पिण्डपितृयज्ञ का समय है ॥ १ ॥ दक्षिणाग्नि में चरु पकाना ॥ २ ॥ और होम करना ॥ ३ ॥ उस के पास उत्तर से दक्षिण तक पूर्ववत (पौर्णमासवत्) एक एक करके (स्पय शूर्प चरुस्थाली उलूखल मुसल इत्यादि) पात्र रखना ॥४॥ गार्हपत्याग्नि से पूर्वली ओर अपूर्ण (कुछ कम भरे) चरुपात्र वा स्रुच् को चुप (विना मन्त्रपाठ) से उठा कर दक्षिणाग्नि से उत्तर की ओर खड़ा होकर (धानों को) कूटा करता है ॥ ५ ॥ एक वार (शूर्प से) फटका करता है ॥ ६ ॥ सार चावलों का इतने पका कर जिन से चरुस्थाली कुछ कम भर जावे (घी से) छोंक कर, पाकपात्र से बाहर निकाल कर, * मेक्षणनामक पात्र से निम्नलिखित दो मन्त्रों से होम किया करता है–१–अग्नये कव्यवाहनाय

* मेक्षण भी विकङ्कत काष्ठ का वा पलाश का होता है । कर्मप्रदीप २ । ५ । १४ में कात्यायन लिखते हैं कि– "मेक्षण पात्र स्रुग्घ के प्रकार का, स्रुग्घ से आधा प्रमाण में, गोल और अङ्गुष्ठमात्र आगे मोटा, अवदान (टुकड़े करने) में समर्थ होना चाहिये" ॥

स्वाहा । २२—सोमाय पितृमते स्वाहा (यजुः २ । ३९) ॥७॥ फिर उस भेक्षण को दक्षिणाग्नि में फेंक कर दक्षिण वा पश्चिम की ओर "अपहता असुरा रक्षाꣳसि वेदिषदः" [यजुः० २ । ३९] इस मन्त्र से रेखा कर देता है ॥ ८ ॥ फिर सामने उल्मुक (जलती बत्ती) रखता है और "ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात्" [यजुः २ । ३०] यह मन्त्र पढ़ता है ॥९॥ फिर अपसव्य वा सव्य से जैसे लेने में अनुकूलता हो, जलपात्र से यजमान के पिता आदि तीनों (पिता, पितामह, प्रपितामह) को (अध्वर्यु) शुद्धि=अवनेजन कराता है और कहता जाता है कि "अमुकशर्मन् ! (इत्यादि) शुद्धि कीजिये" ॥ १० ॥ जड़ के समीप से एक बारगी काटे हुवे (कुश) रेखा पर बिछा कर जिस क्रम से अवनेजन कराया था, उसी क्रम से " अमुकशर्मन् ! (इत्यादि) यह आप का भाग है" कह कर पिण्ड दिया करता है ॥ ११ ॥ कोई आचार्य कहते हैं कि "और जो आप के साथ हों, उन के लिये भी है " ऐसा कहा करता है ॥ १२ ॥ ग्लानि वा तृप्ति पर्यन्त उत्तर को बैठा रहता है, यह मन्त्र पढ़ कर कि "अत्र पितरो मादयध्वम्०" [यजुः २ । ३१] ॥१३॥ फिर लौट कर " अमीमदन्त पितरः०" [२ । ३१] यह पढ़ता है ॥ १४ ॥ फिर पूर्ववत् अवनेजन=शुद्धि पुनः कराकर नीवि को ढीली करके "नमोवः पितरो रसाय०" [यजुः २ । ३२] इस मन्त्र से हाथ जोड़ता है ॥ १५ ॥ " एतद्वः पितरो वासः " [यजुः २ । ३२] इस मन्त्र से प्रत्येक पिण्ड पर सूत के डोरे चढ़ाता है ॥ १६ ॥ अथवा

ऊन के टुकड़े ॥ १७ ॥ अथवा यजमान ५० वर्ष से अधिकायु हो तौ उस के (छाती के) बाल ॥ १८ ॥ फिर " ऊर्जं वहन्तीः०" [यजुः २ । ३४] इस मन्त्र से जल चढ़ाता है ॥ १९ ॥ फिर यजमान संगवा कर सूंघता है ॥ २० ॥ फिर उल्मुक और कुशासनों को अग्नि में (छोड़ दिया करता है) ॥ २१ ॥ फिर पुत्र चाहने वाली यजमान की पत्नी-स्त्री "आधत्त पितरो गर्भं कुमारम्०" [यजुः २ । २३] यह मन्त्र पढ़ कर बीच के (पितामह=दादसरे के) पिण्ड को खाया करती है ॥ २ ॥

यहां तक समस्त पिण्डपितृयज्ञ कहकर मरे हुवोंका तात्पर्य न आया देख कर आगे २३-२७=५ सूत्रों में मृतकोद्देश का विधान जो पीछे से बढ़ाया है, स्पष्ट जान पड़ता है। यथा-

प्रेतेभ्यो ददाति ॥ २३ ॥ जीवपितृकोऽपि ॥२४॥ जीवान्तर्हितेऽपि ॥२५॥ जीवपितृकस्य होमान्तमनारम्भो वा ॥२६॥ नव्यवेते जातूकर्ण्यो न जीवन्तमतिददातीति॥२७॥(४।१।२४-२७)

अर्थ-(जो यह पिण्डदान कहा सो) मरे हुवे (पितृ पितामह प्रपितामहों) के लिये दिया करता है ॥ २३ ॥ जिस का पिता जीता है वह भी (पितामहादि मरे हुवों को देता है) ॥ २४ ॥ यदि बीचला (पितामह) जीता हो तौ भी (मरे हुवे पिता प्रपितामह इन दो को देता है) ॥२५॥ जिस का पिता जीता हो उस (यजमान को होम तक ही पितृयज्ञ जानना) अथवा सर्वथा करना ही नहीं ॥ २६॥ जातूकर्ण्य का मत है कि (जिस का पिता जीवित हो वह) जीवित को उल्लङ्घन कर के (मरे हुवे)

पितामह प्रपितामहों को) नहीं देसकता क्योंकि व्यवधान नहीं होना चाहिये ॥ २७ ॥

इस विषय में बहुत मतभेद दिखलाये हैं। भाष्यकार ने आपस्तम्ब, मनु, काटक; इत्यादि के भी मतभेद लिखे हैं। इस से भी इस का सर्वसम्मत न होना वा प्रक्षिप्त होना पाया जाता है ॥

आगे पिण्डपितृयज्ञ का अङ्ग होना आदि निरूपण करतेहैं

पूर्वो वाऽङ्गत्वात्पिण्डपितृयज्ञः ॥ २८ ॥ प्रकरणकाललिङ्गानुग्रहवचनानाहिताग्निश्रुतिभ्योऽनङ्गम् ॥२९॥ अङ्गं वा समभिव्याहारात् ॥३॥ अनाहिताग्नेरप्येषः ॥३१॥ चतुर्थे प्रथमा कण्डिका समाप्ता ॥ ४ । १ ॥

अथवा अङ्ग होने से पिण्डपितृयज्ञ, दर्शेष्टि के पूर्व ही कर्त्तव्य है ॥ २८ ॥ दूसरा पक्ष यह है कि पिण्डपितृयज्ञ, दर्शेष्टि का अङ्ग नहीं है क्योंकि १–प्रकरणभेद है। पिण्डपितृयज्ञ दर्शेष्टिप्रकरण में नहीं कहा। और दो कालभेद भी है क्योंकि दर्शेष्टि की प्रतिपदा और पूर्वाह्णकाल है, तथा इस पिण्डपितृयज्ञ की अमावास्या और अपराह्ण काल है। ३–इसी प्रकार लिङ्ग से भी भेद है, क्योंकि "यज्ञमा से ग्रहण किया हुआ पौर्णमास से यजन करे, पितृयज्ञ से ही अमावास्या का अवरोध करता है" यह वाक्य अमावास्या के विना भी केवल पितृयज्ञ को दिखलाता है। यदि पिण्डपितृयज्ञ दर्शाङ्ग होता तो प्रधान (दर्शेष्टि) के विना केवल अङ्ग (पिण्डपितृयज्ञ) का अनुष्ठान नहीं बनता।

इस लिये इस लिङ्ग से भी जाना जाता है कि यह दर्श का अङ्ग नहीं है। ४—इस पिण्ड पितृयज्ञ के विषय में गवामयनादि संवत्सरसत्र में, दर्श से पृथक् अनुग्रहवचन (कथमेषां पितृयज्ञोऽनन्तरितो भवतीति १२ । ३ । ५ । ५) है। यदि अङ्ग होता तो (कथमेषामामावास्यꣳ हविरनन्तरितं भवतीति दध्ना च पुरोडाशेन चेति १२ । ३ । ५ । ६) यह अमावास्यानुग्रह से ही पितृयज्ञ की भी प्रयाजादि के समान अनुग्रहसिद्धि हो जाती और पृथक् अनुग्रह वचन न होता। और (औपासनैरिति ब्रूयादिति १२ । ३ । ५ । ५) यह पृथक् अनुग्रहवचन है। इस से जानना चाहिये कि अङ्ग नहीं है ॥ ५—और अनाहिताग्नि को भी सुना जाता है कि पिण्डपितृयज्ञ करे। यदि दर्श का अङ्ग होता तो अनाहिताग्नि को दर्श का अधिकार न होने से पितृयज्ञ का भी अधिकार न होता ॥२९॥ अथवा "पूर्वेद्युः पितृभ्यो यज्ञं निष्क्रीय प्रातर्देवेभ्यः प्रतनुते" इस वाक्य में दर्श और पितृयज्ञ को साथर आगे पीछे वर्णन किया है। इस से दर्श का अङ्ग ही पितृयज्ञ को जानना ॥३०॥ फिर उत्तर पक्ष है कि—अनाहिताग्नि को भी पिण्ड पितृयज्ञ विहित होनेसे दर्शका अङ्ग नहीं ॥३१॥ यही निश्चय मीमांसादर्शन में जैमिनि जी ने भी किया है कि—

पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात् ४ । ४ । १९

परन्तु कर्काचार्यादि समस्त भाष्यकार इस को दर्श का अङ्ग मानते हैं। यह पद्धतिकार का कथन है ॥

निवेदन

अब आप कृपा करके पूर्व पृष्ठ० ४३–५३ में छपे वैदिक पितृयज्ञ और पृष्ठ ५३–७५ में छपे ब्राह्मणोक्त पितृयज्ञ और पृष्ठ ७५-८१में छपे सूत्रोक्त पिण्डपितृयज्ञ को एक साथ पढ़कर मिलान कीजिये तो आपको यह तो तीनो में एकसा मिलेगा कि पितृजनों की सेवा कीजावे और अग्नि में आहुतियें दी जावें परन्तु चरु पकाने आदि का विधान औरेवार वेद-संहिता में नहीं है, किन्तु ब्राह्मण और सूत्रकार ने रचा है और जो वेदाज्ञा की पूर्त्ति का प्रकार ब्राह्मण सूत्रादि लिखें, उस को मान लेना भी उचित ही है। परन्तु आप देखते हैं कि मरे हुवों को देना, न वेदसंहिता से मिलता, न ब्राह्मण से और न श्रौतसूत्र के २२ सूत्रों तक समस्त विधान में मरों का नाम आया। किन्तु २३–२७ तक ५ सूत्रों में पीछे चाहे कात्यायन ने और चाहे अन्य किसी ने यह घड़न्त की है। इसी से मन्वादि स्मृतियों में गया हो, ऐसा अनुमान है। वेदोक्त पितृयज्ञ का विधान तो निर्विवाद सब आर्यों को माननीय है, परन्तु ब्राह्मण और सूत्र पर एक शङ्का तो यह होती है कि वेद में अमावास्या के दिन ही इस का करना विहित न था, किन्तु सर्वकाल में सामान्य था। ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों ने अमावास्यादि काल में नियम क्यों किया? क्या अन्य दिनों में पितृसेवा नहीं करनी चाहिये?

उत्तर–क्योंकि पितृयज्ञ का संबन्ध यजुर्वेद (२। २९ ने प्रथम दो आहुतियों द्वारा चन्द्रादि पितृपदवाच्य अन्तरिक्षस्थान देवगणों से भी बतलाया है, इस लिये ब्राह्मण

सूत्रादि की कल्पना अमावास्यादि कालविषयक अमूलक नहीं जान पड़ती, परन्तु यजुः २। ३४ के मन्त्रानुसार मनुष्यों को नित्य ही पित्रादि की सेवा श्रद्धापूर्वक करनी चाहिये। अमावास्या का विधान वेदबोधित नित्य के पितृयज्ञ का बाधक नहीं। जिस प्रकार प्रातः सायं सन्ध्योपासन में (शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये०) इस मन्त्र से आचमन किया जाता है, आचमन में थोड़ा सा जलपान करना होता है, परन्तु मन्त्र में जो (आपः * पीतये * भवन्तु) पद हैं, उन का यही तात्पर्य नहीं कि सायं प्रातः सन्ध्या में ही जल पीना चाहिये किन्तु (जल * पीने के लिये * होवें) यह मूल मन्त्र के पदों का अर्थ है, जिस के अनुसार मनुष्यमात्र को जब २ प्यास हो तभी जल पीना चाहिये, न कि केवल सन्ध्योपासन करते समय। हां, विशेष सन्ध्योपासन का आचमन भी सामान्य वेदाज्ञा के अन्तर्गत है। इसी से वेदानुकूल है। इसी प्रकार अमावास्या का विशेष पिण्डपितृयज्ञ भी वेद के सामान्य नित्य के पितृयज्ञसे बाहर नहीं और सभी विशेष, अपने२सामान्य के अन्तर्भूत हुआ करते हैं। हम इस के लिये एक दृष्टान्त देना चाहते हैं, जिस से यह सुगम हो जावे। एक मनुष्य ने कोई पुस्तक बनाया और पुस्तक का नाम मान लो कि "भास्करप्रकाश" है और उस ने उसे एक्ट २५ सन् १८६७ के अनुसार रजिस्टर्ड कराने के लिये फ़ार्म भर प्रार्थना के साथ गवर्नमेंट को भेजा और उस की रजिस्टरी हो गई। अब विचारना चाहिये कि यह रजिस्टरी क़ानून के अनुकूल हुई वा विरुद्ध। सब कोई कहेगा कि अनुकूल हुई। परन्तु क़ानून सामान्यतः सब के लिये था, केवल "भास्कर-

प्रकाश"केलिये ही नहीं। तथापि"भास्करप्रकाशके कर्त्ताने इस क़ानूनका प्रमाण देकर"भास्करप्रकाश"की रजिस्टरी करालो और वह क़ानून के अनुकूल रजिस्टर्ड होगया॥

इसी प्रकार कर्मकाण्ड के आचार्यों (ब्राह्मण सूत्रादि के कर्त्ताओं) ने कोई कर्मविशेष विधिबद्ध करना चाहा तब वेद के सामान्यतः विधिवचनों का विनियोग दिखा कर मानो उन का प्रमाण (हवाला) देकर अपने रचित कर्मकाण्ड की वेदानुकूल रजिस्टरी करालो। इतने से वेद के वे वचन केवल उसी एक कर्म के लिये नहीं हो गये। किन्तु आप भी जानते होंगे कि कर्मकाण्ड में एक ही मन्त्र कम से कम १६ सलहों संस्कारों में पढ़ा जाता है। देखो संस्कारविधि सामान्य प्रकरण। तो क्या मन्त्रकर्त्ता का तात्पर्य केवल एक ही संस्कारविषयक था ? नहीं किन्तु सामान्य था, उस को जिस २ कर्मकाण्ड में उपयोगी समझा, उस २ में कर्मकाण्ड के आचार्यों ने विनियुक्त कर लिया। (तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमु०) इस मन्त्र को आपने सन्ध्या में भी प्रयुक्त देखा होगा और शान्ति-प्रकरण संस्कारविधि में भी, तथा विवाह में वधू को सूर्यावलोकन कराने में भी। तो क्या इस मन्त्र का सामान्यार्थ जो परमात्मा वा सूर्यलोक के वर्णन में हैं, उस २ कर्म विशेष में निवियुक्त होकर संकीर्ण वा एकदेशीय हो सकता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार अन्य शतशः कर्मकाण्ड के विनियोग हैं। ऐसे ही पितृयज्ञ भी वेद मन्त्रों में सामान्यतः कहा हुवा है और कर्मकाण्ड के आचार्यों ने अपने २ ग्रन्थों में विशेष पितृयज्ञोंपर विनियुक्त कर लिया है॥

पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण भी कालविभाग (प्रोग्राम) मात्र है। विशेष चिन्तनीय नहीं॥

पितृयज्ञ प्रकरण में कोई जगह दिग्विभाग बताते हुवे जो दक्षिण दिशा का नाम ब्राह्मण ने प्रयुक्त किया है सो हमारी समझ में वेदाभिप्राय से ही किया है। क्योंकि-

दक्षिणादिगिन्द्रोधिपतिस्तिरश्चिराजो रक्षिता पितर इषवः। अथर्व ३। २७। २

इत्यादि से भी यह पाया जाता है कि अन्तरिक्षस्थान देवतों में से पितरों का सम्बन्ध दक्षिण दिशा से कुछ विशेष है। वेदों के अन्य बहुत स्थलों में भी भिन्न २ दिशाओं के साथ भिन्न २ देवतों (दिव्य भौतिक व्यावहारिक पदार्थों) का सम्बन्ध झलकता है, परन्तु वह क्या सम्बन्ध है सो ठीक २ अभी हम को अनुभव नहीं हुवा। परन्तु वेद में श्रद्धा विश्वास रखते हुवे हम यह नहीं कह सकते कि यह असत्य है। संसार के असंख्य पदार्थ हैं जो सत्य हैं परन्तु हम उन्हें विशेषता से नहीं जानते। और तो और हम अपनी आंख वा कान आदि इन्द्रियों के विषय में ही मूढ हैं। यह तो जानते हैं कि रूप का आंख से और शब्द का कान से विशेष सम्बन्ध है। परन्तु हम में से पूर्ण वैद्य वा योगियों को छोड़ कर सब कोई यह नहीं जानता कि आंख वा कान की वह क्या विशेष बनावट है और वह क्या विशेष मसाला लगा है जिस से इन के द्वारा उन २ रूप वा शब्दों का बोध हो जाता है। इसी प्रकार हम वेदबोधित देवतों (दिव्य आकाशस्थ पदार्थों) का

किस दिशा से क्या सम्बन्ध है, यह अभी नहीं जानते और विना जाने यूंही कुछ जोड़ तोड़ मिला देना अच्छा नहीं समझते ॥

चावलों को एक ही वार फटकना आदि छोटी २ बातें हैं। ऐसी बातों पर अड़ना वा इन को त्यागने के लिये अड़ना दोनों बातें व्यर्थप्राय हैं। जिस काम का कुछ फल न हो वा अत्यन्त न्यून फल हो, चाहे वह ग्रन्थों में लिखा भी हो, परन्तु बुद्धिमान् लोग उन पर अड़ते नहीं और लकीर के फ़क़ीर भी नहीं होते। उदाहरण के लिये हम नामकरण संस्कार को प्रस्तुत करते हैं। आश्वलायन गोभिल और शौनिक गृह्यसूत्रों में—

द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा। युग्मानि त्वेव पुंसाम्। अयुजानि स्त्रीणाम्।

इत्यादि प्रकार से पुरुषों के नाम दो वा चार आदि अक्षरों के समाक्षरयुक्त और स्त्रियों के नाम ३। ५ आदि विषमाक्षरसंख्यायुक्त रखने लिखे हैं परन्तु भरत नकुल लक्ष्मण अर्जुन आदि प्राचीनकालिक धर्मात्मा वेदानुयायी आर्यों के नाम भी इस के विपरीत ३ तीन विषम अक्षरों के देखें जाते हैं और सीता गार्गी कुन्ती आदि अनेक साध्वी धर्मात्मा वेदानुयायिनी आर्याओं के नाम भी इस के विपरीत दो समाक्षायुक्त देखे जाते हैं। तथा मनु में लिखा है कि—

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।

जिस में नक्षत्र वृक्ष नदी आदि के नाम पर नाम वाली स्त्री से विवाह को ही वर्जित कर दिया है। परन्तु इस

छोटी सी बात पर भी प्राचीन आर्य अड़ते न थे। जैसा कि नक्षत्र=रोहिणी, रेवती। नदी=गङ्गा जिसके पुत्र भीष्म पितामह थे। इत्यादि नामवाली स्त्रियों से प्रसिद्ध धर्मात्मा वेदानुयायी आर्यों ने विवाह किये। जिस से पाया जाता है कि पूर्वकाल में आर्य लोग ऐसे छोटे २ विधि वा निषेधों को अल्पफल वा निष्फल जानते हुवे विशेष ध्यान नहीं देते थे और न खण्डन पर ही उतारू होते थे। इसी प्रकार एक वार फटकना आदि भी जानिये॥

ऐसे ही उतार कर भात में घी मिलाना (शतपथ कं० १०), मेक्षण को अग्नि में डाल देना (कं० १३), अवनेजन का प्रकार विशेष (कं० १६), एक ही वार और मूल में से ही कटे कुश तृण विछाना (कं० १७) इत्यादि व्यवहार साधारण रिवाज (वा एटिकेट) मात्र है। न उस के खण्डन की आवश्यकता है, न उस में कुछ भी देश कालानुसार अन्तर कर लेने वा हो जाने में कोई पाप है। हां कं० ११। १२ में जो मन्त्र (यजुः २। २९) का विनियोग दिखा कर लिखा है वह अटल वेदोक्त अवश्य कर्त्तव्य हैं। इसी प्रकार कं० १५ और २० तथा २२ और २४ में कहे मन्त्रविनियोगपूर्वक कार्य आवश्यक हैं॥

श्रौतसूत्रोक्त अमावास्या, अपराह्ण दक्षिणाग्नि में चरु पकाना, होम, धान कूटना, फटकना, रेखाकरण, उलमुक रखना, अवनेजन, प्रत्यवनेजन, पिण्डदेना, सार्थी लोगों का किन्ही के मत से पृथक् निर्देश, "अत्र पितरो माधयध्वम्०" इत्यादि मन्त्रजप, नीविविस्रंसन, नमस्कार इत्यादि क्रियायें तो कुछ वेदमन्त्रों और शेष ब्राह्मण ग्रन्थ (शतपथ) के

अनुकूल ही हैं परन्तु कुछ बातें अवश्य निजकल्पित हैं। जैसा कि–१६,१७,१८ वें सूत्रों में पिण्डों पर सूत के डोरे वा ऊन वा यजमान की छाती के बाल चढ़ाना लिखा है जो ब्राह्मण में आप देखते हैं, कहीं नहीं कहा और वेद (य० २। ३२) में (वासः) पद से पितरों को वस्त्र अर्पण करना लिखा है, न कि सूत ऊन और अपवित्र शरीर के रोम पिण्डों पर चढ़ाना। यह कात्यायन का विनियोग मन्त्र के अनुकूल न होने से अवश्य त्याज्य है। इसी प्रकार १९ वें सूत्र में पिण्डों पर जल चढ़ाना लिखा है, वह भी मूलमन्त्र (य० २। ३४) के अनुकूल नहीं है और कात्यायन का विनियोग बेढङ्गा है, क्योंकि मूलमन्त्र में पितृजनों को जलादि से तृप्त करने की आज्ञा है, न कि उन के भोजनयोग्य पिण्डों (ग्रासों) को पानी से भिगो कर निःस्वादु कर देना॥

इसी प्रकार २२ वें सूत्र में पितामह (दादसरे) के मध्यम पिण्ड को पत्नी खावे, जिस से पुत्र उत्पन्न हो, इत्यादि लेख भी अयुक्त है। मन्त्र में पत्नी वा पिण्ड के खाने का संकेत मात्र भी नहीं है। शतपथ में इस मन्त्र का कोई विनियोग ही नहीं, न पत्नी को पिण्ड खाना लिखा। और पत्नी को अपने दादसरे (पति के पितामह) से गर्भ धारण की प्रार्थना भी अयुक्त है। किन्तु इस मन्त्र में तो जो कुछ उपदेश है सो हम पूर्व अर्थ लिख कर स्पष्ट कर आये हैं॥

यद्यपि १६ वें से २२ वें सूत्र तक ७ सूत्रों में कहा विधान सभी ऐसा है कि जिस का मूल शतपथ में नहीं पाया जाता परन्तु तौ भी दुर्जनतोष न्याय से यदि पत्नी

पिण्डप्राशनादि पर हम दंश न भी दें तो भी उस से मृतकश्राद्ध पक्ष की पुष्टि नहीं होती और पिण्डदान का प्रकार समाप्त हो जाता है । फिर अन्त में २३–२७ तक ५ सूत्रों का कहा मृतके देश स्पष्ट करना सूत्रकर्त्ता की खेंच तान नहीं तो क्या है ? इस का मूल न वेदसंहिता में है, न शतपथ में, समस्त प्रकरण पढ़ जाइये, कहीं नहीं मिलेगा । इस प्रकार शोचने से स्पष्ट हो जायगा कि मृतकश्राद्ध न वेदोक्तहै, न ब्राह्मणोक्त है और है १५ वा २२ वें सूत्र तक कात्यायनोक्त है । अन्त की कल्पना प्रकरण से बाहर, मन्त्र और ब्राह्मण से भिन्न और असम्भवादि दोषग्रस्त होने से अमान्य है ॥

—*—

अब हम मीमांसादर्शन का भी पिण्डपितृयज्ञ आप के सम्मुख रखते हैं–

मीमांसादर्शन का पिण्डपितृयज्ञ

—:*:—

यूं तो मीमांसादर्शन में व्याख्यान के अन्तर्गत बहुत स्थलों में पितृयज्ञ की चर्चा आगई है परन्तु अध्याय ४ पाद ४ सूत्र १९ । २० । २१ में एक पूरा अधिकरण है, जिस में पितृयज्ञ का निर्णय है यथा–

पितृयज्ञःस्वकालत्वादनङ्गं स्यात्॥१९॥ (सि०)

(शबरभाष्यम्–) अस्ति आमावास्ये कर्मणि पितृयज्ञः, अमावास्यामऽपराह्णेपिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति इति,तत्र संशयः–किम्

आमावास्यस्य कर्मणः पिण्डपितृयज्ञोऽङ्गम् ? उतानङ्गम् ? इति । किं प्राप्तम् ? अङ्गम्, फलवत्संनिधानात् निष्क्रयवचनाच्च ॥

आह, ननु फलवत्संनिधावफलं तदङ्गं भवति, फलवच्च इदं कल्प्येन स्वर्गेण इति। उच्यते-सत्यम्, आमावास्यस्यैकवाक्यत्वात् न शक्यः स्वर्गः कल्पयितुम् इति । आह-कालवचनत्वात् न कर्मणा एकवाक्यत्वं संभवतीति । उच्यते-लक्षणयापि तावत्कर्मैकवाक्यता संभवति । स्वर्गे कल्प्ये न लक्षणा न श्रुतः । एवं चाऽऽमनन्ति-यत्पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति, पितृभ्य एतदङ्गं निष्क्रीय यजमानोदेवेभ्यः प्रतनुते इति । अमावास्यां प्रति निष्क्रेतुं च श्रूयते,तस्मात्तदङ्गभूतमिति॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः, पितृयज्ञः स्वकालत्वात् अनङ्गं स्यात् । अनङ्गभूतः पितृयज्ञः । कस्मात् ? स्वकालत्वात्, स्वशब्दाभिहितेन कालेनास्य सम्बन्धः, न कर्मणा लक्षितेनेति । यथा, दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजतेति । यथा, तदेतत्पुरस्तादुपसदां सौम्यन

चरन्तीति च । काले एवायं मुख्यशब्दो, न कर्मणि। कर्मणि लक्षणा, श्रुतिश्च लक्षणाया बलीयसी? यच्चोक्तं लक्षणया कर्मैकवाक्यता भविष्यतीति, तच्च न। कस्मात ? अनुवादे हि लक्षणा न्याय्या, न विधौ । विधिश्चायम, तस्मान्नाऽमावास्याकर्मणा सम्बन्धः। एकस्मिन्काले द्वे कर्मणी परस्परेणाऽसंबद्धे इति ॥

शबरभाष्य का अर्थ–अमावास्या के कर्म में पितृयज्ञ भी एक कर्म है । जैसा कि " अमावास्या को अपराह्ण काल में पिण्डपितृयज्ञ से अनुष्ठान किया करते हैं" यह कहा है । इस में संशय यह होता है कि अमावास्या के कर्म (दर्शेष्टि) का पितृयज्ञ अङ्ग है वा नहीं ? प्राप्त क्या है? अङ्ग होना । क्योंकि फल वाले (कर्म=दर्शेष्टि) के समीप होने और निष्क्रय कहने से (अर्थात् यह कहने से कि " पितरों के लिये यह यज्ञ निष्क्रय करके यजमान देवों के लिये [यज्ञ का) विस्तार करता है ") ॥

कहते हैं कि यदि फल वाले के सङ्ग में कहा है तो वह अङ्ग फलवान् नहीं होता किन्तु अङ्गी=मुख्य कर्म ही फलवान् होता है परन्तु कोई यह कल्पना कर सक्ता है कि यह (पितृयज्ञ) स्वर्ग से फलवान् है (अर्थात् अन्य यज्ञों के समान इस का फल भी स्वर्ग है) । उत्तर–यह ठीक है परन्तु अमावास्या के साथ एकवाक्यता होने से स्वर्ग की कल्पना नहीं बनती । फिर कहते हैं कि (अमावास्या) कालवाचक है, इस से (उस की) कर्म के साथ एकवाक्यता नहीं हो सकती । उत्तर-लक्षणा से भी कर्म

के साथ एकवाक्यता हो जाया करती है। यदि स्वर्ग की कल्पना करें तो न कोई लक्षणा है, न श्रुति है। और ऐसा संप्रदाय चला आता है कि "जो पूर्व दिन में पितरों के लिये किया करता है वह पितरों के लिये यज्ञ है (इस को) निष्क्रय करके (फिर) यजमान देवतों के लिये (यज्ञ को) फैलाता है" इस प्रकार अमावास्या के प्रति निष्क्रयार्थ श्रुति पाई जाती है। इस कारण (पितृयज्ञ दर्शेष्टि का) अङ्ग हुवा। (यह पूर्व पक्ष हुवा) ॥

इस प्रकार अङ्गत्व प्राप्त होने पर हम यह उत्तर देते हैं कि पितृयज्ञ अङ्ग नहीं है। क्योंकि इस का सम्बन्ध स्वशब्द से कहे हुवे काल के साथ है, न कि कर्म (दर्शेष्टि) के साथ। जिस को लक्षणा से (तुम) लक्षित करते हो। जैसा कि " दर्शपूर्णमासों से यजन करके सोम से यजन करे" और जैसा कि 'यह उपसदों के पूर्व सोमयाग किया करते हैं " तो यहां यह मुख्य शब्द काल विषय में है, न कि कर्म में (अर्थात् दर्शपूर्णमास के अनन्तर सोमयाग का कथन वा उपसदों के पूर्व सोमयाग का कथन यह नहीं जतलाता कि दर्शपूर्णमासादि का अङ्ग सोमयाग है। किन्तु कालमात्र की अनन्तरता दिखलाता है) कर्म में लक्षणा है और लक्षणा से श्रुति अति बलवती है। और जो यह कहा था कि लक्षणा से (अर्थात् अमावास्या= कालवाचक शब्द से उस काल में होने वाला कर्म=दर्शेष्टि ग्रहण करलेने से) कर्म के साथ एकवाक्यता हो जावेगी, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि अनुवाद में ही लक्षणा करना ठीक है, न कि विधि में। और यह विधि है। इस लिये अमावास्या के कर्म (दर्शेष्टि) से (पितृयज्ञ का)

सम्बन्ध नहीं किन्तु एक काल (अमावास्या) में दो परस्पर असंबद्ध (१–दर्शेष्टि। २–पितृयज्ञ ये दोनों स्वतन्त्र) कर्म हैं (एक दूसरे का अङ्ग वा अङ्गी नहीं हैं) ॥

तुल्यवच्च प्रसंख्यानात् ॥ २० ॥ (युक्तिः)

(शबरभाष्यम्–) तुल्यवच्चान्यैः प्रधानैः प्रसंख्यायते । चत्वारोव महायज्ञाः–अग्निहोत्रं,दर्शपूर्णमासौ, ज्योतिष्टोमः, पिण्डपितृयज्ञः । इति महायज्ञैस्तुल्यवत् प्रसंख्यायते, कास्य महायज्ञता स्यादन्यतः फलवत्तायाः । तस्मादनङ्गम् ॥

अर्थ–अन्यप्रधान यज्ञों के साथ इस (पितृयज्ञ) की गणना होने से (यह पितृयज्ञ–दर्शेष्टि का अङ्ग नहीं) । " चार महायज्ञ हैं–१ अग्निहोत्र २ दर्शपूर्णमास, ३ ज्योतिष्टोम और ४ पिण्डपितृयज्ञ" इस प्रकार महायज्ञों के साथ बराबरी में (यह पितृयज्ञ) गिना जाता है । (यदि यह अन्य का अङ्ग होता तो) अन्य से फलवान् होने के कारण इस की 'महायज्ञता' ही क्या रहती । इस कारण अङ्ग नहीं है ॥

प्रतिषिद्धे च दर्शनात् ॥२१॥ (युक्तिः २)

इतश्चाऽनङ्गम्, प्रतिषिद्धे आमावास्ये-पिण्डपितृयज्ञं दर्शयति–" पौर्णमासीमेव यजेत भ्रातृव्यवान्, नाऽमावास्यां, हत्वा

भ्रातृव्यममावास्यया यजेत, पिण्डपितृयज्ञे-नैवामावास्यायां प्रीणाति" इति। असत्या-ममावास्यायां पिण्डपितृयज्ञं दर्शयति, तद-नङ्गत्वे उपपद्यते, तस्मादपि नाऽनङ्गं पिण्ड-पितृयज्ञ इति ॥

अर्थ-और इस से भी अङ्ग नहीं है कि अमावास्या के (दर्श कर्म का निषेध करने पर भी पिण्डपितृयज्ञ को (शास्त्र) दिखलाता है-"पौर्णमासी का ही यजन करे, जिस (राजा) के शत्रु हों, शत्रु का हनन करके अमा-वास्या=दर्श से यजन करे। अमावास्या में (भ्रातृव्यवान् =शत्रुवाला राजा) पिण्डपितृयज्ञ से प्रीति करता है"। (यह वाक्य) दिखलाता है कि दर्शेष्टि के विना भी पिण्डपितृयज्ञ है। जो कि तभी बन सकता है, जब कि अङ्ग न हो। इस से भी पिण्डपितृयज्ञ (दर्शेष्टि का) अङ्ग नहीं है (किन्तु स्वतन्त्र वा स्वयं प्रधान है) ॥ २१ ॥

अब विचारिये कि-

यजुर्वेद की मूलसंहिता के पिण्डपितृयज्ञ, शतपथ के पिण्डपितृयज्ञ और मीमांसादर्शन के पिण्डपितृयज्ञ तथा अन्त की खेंचातानी को त्याग दें तो कात्यायन के भी पिण्डपितृयज्ञ में मृतकों का नाम कहां है ?

बस अब तो हम इस विषय का यहीं विराम करते हैं किन्तु यदि मृतकश्राद्धवादी लोग किसी अन्य प्रकरण को लेकर स्वपक्षपोषण का उद्योग करेंगे तो हम उस पर फिर विचार करेंगे ॥ इति पिण्डपितृयज्ञव्याख्यानम् ॥

वैदिकसिद्धान्तग्रन्थमाला—संख्या ७

ओ३म्

पितृयज्ञसमीक्षा

अर्थात्

लाला हरद्वारीमल चोखानी भिवानी निवासी लिखित

'पितृयज्ञ की संहति' का

उत्तर

लेखक—
श्री पं० भूमित्र शर्मा आर्योपदेशक, मेरठ

प्रकाशक—
रघुवीरशरण दुबलिस सम्पादक 'भास्कर' मेरठ
मिलने का पता:—
मैनेजर भास्कर प्रेस, मेरठ शहर
(अस्य मुद्रणाधिकारः प्रकाशकेन स्वायत्तीकृतः)
एक कापी का मूल्य ।=)] [वार्षिक मूल्य ३।-)
द्वितीय भाद्रपद वदि १, संवत् १९७४ वि०
Printed and Published by
RAGHUBIR SHARAN Dublis,
at the Bhaskar Press, Meerut City.

(रक्तशोधक) बलामृतशर्बत

४० वर्ष का अज़माया हुवा एक महात्मा का बताया हुवा आतशक से वा और अनेक कारणों से कैसा ही नया वा पुराना खून बिगड़ा हुवा हो जो कि किसी दवाई से आराम न होता हो, जो रोगी निराश हो गये हों उन को मैं सचाई के डङ्के की चोट से कहता हूं कि वह निःशङ्क आज़मा लें। वृक्ष के पत्ते तोड़ने से पेड़ का नाश नहीं होता, उस को मूल जड़ से उखेड़ना चाहिये। श्री धन्वन्तरि महर्षि कहते हैं कि अशुद्ध रक्त से ही सब रोग पैदा होते हैं। रक्त की शुद्धता से दीर्घ जीवन अरोगता प्राप्त होती है और कोई रोग पास नहीं आता, इस वास्ते खून को साफ़ रखना अत्यन्त आवश्यक है। खून साफ़ करने के वास्ते बलामृतशर्बत से बढ़ कर कोई औषधि नहीं है। इस को हर एक ऋतु में बूढ़ा जवान बच्चे नरनारी सब पी सकते हैं। यह खून को साफ़ करता है तथा बल को बढ़ाता है। काले दाग़ लाल चकत्ते चेहरे की बदसूरती घाव बेचैनी जोड़ों का दर्द आंखों में गरमी वा लाली खुजली फोड़े बदहज़मी कब्ज़ को दूर करता है। क़ीमत ३२ खुराक १६ दिन के वास्ते १॥)रु० डा० खर्च जुदा होगा॥

पता—मैनेजर (एस. बी. के.)

सेवक औषधालय लाहौर

३६०/
प्र.पु.७

ओ३म्

पितृयज्ञसमीक्षा

'पितृयज्ञ की संहति' का उत्तर

आरम्भिक वचन

विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥

हे सर्व जगदुत्पादक जगत्पिता ! आप हमारे हृदयों से सम्पूर्ण अनृत अविद्या भ्रम तथा स्वार्थतत्परता से युक्त दुष्ट विचारों को दूर कीजिये और जो सर्वप्राणी मात्र के कल्याणकारी निष्पक्ष वेदोक्त विचार हैं उन को प्रकाशित कीजिये जिस से हम सर्व मनुष्य भ्रातृभाव से एक दूसरेको सत्यपथ पर आरूढ़ करने में तत्पर रहें ॥

१—सत्यधर्म के अभिलाषी महाशयगण ! आज हम को श्रीमान् लाला हरद्वारीमल वैश्य चौखानी द्वारा लिखित (पितृयज्ञ की संहति) नाम का पुस्तक प्राप्त हुआ । इस पुस्तक को हमने बड़े प्रेमपूर्वक आद्योपान्त पढ़ा । उक्त पुस्तक में चौखानी जी ने मृतकश्राद्ध को वेद तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से सिद्ध करने का अधिक परिश्रम किया है । परन्तु

उक्त महाशय को मृतकश्राद्ध के विषय में वेदों से अथवा ब्राह्मणग्रन्थों से कोई भी विधिवाक्य नहीं प्राप्त हुआ है; अतः मृतकश्राद्ध विषयक विधिवाक्य से यह पुस्तक शून्य है। पर अधिकतर उक्त पुस्तक में आर्यसमाज के माननीय पितृयज्ञ वा श्राद्ध विषयक मन्त्रार्थों में शङ्का कर२के अपने पक्ष की पुष्टि करने में परिश्रम किया है, इससे पाठक महाशय समझ सकते हैं कि मृतक श्राद्ध को कर्त्तव्य सिद्धि की प्रतिज्ञा करके परमत में दोष दिखाते२ ही ग्रन्थ की समाप्ति की गई, परन्तु अपने पक्ष की पुष्टि में विधिवाक्य न दे सकने से चोखानी जी निग्रह स्थान में अवश्य ही गिरे हैं। इसी भाव को दर्शाने के वास्ते हमने उक्त पुस्तक की समीक्षा का लेख आरम्भ किया है। आशा है कि हमारे भ्राता श्रीमान् हरद्वारीमल जी हारजीत के भाव को परित्याग करके निष्पक्ष आत्मा से हमारे लेख को विचार कर अपनी सम्मति प्रकाश करेंगे और अन्य महाशय भी इसको विचारदृष्टि से पढ़ कर सत्यासत्य का निर्णय करेंगे॥

ओ३म्

अथ भूमिकासमीक्षा ।

अपनी पुस्तक के पृष्ठ १,२ में उक्त महाशय ने भूमिका लिखी है जिस में आपने अपने आर्यसमाजद्रोही बनने का समय १९५५ सं० लिखा है। पुनः आप लिखते हैं कि कुछ दिनों के बाद स्वामी जी तथा अन्यान्य पण्डितों के ग्रन्थ देखकर श्राद्ध के सम्बन्ध में पं० आर्यमुनि जी तथा पं० तुलसीराम जी के पास कुछ प्रश्न लिखकर भेजे, जिन का कोई उत्तर न मिलने के कारण विद्वान् पुरुषों के सङ्ग में शास्त्र का अनुशीलन करते २ मुझे दृढ़ निश्चय हो गया कि यदि आर्यसमाज वेदादि शास्त्रों को मानेगा तो उसे श्राद्ध भी मानना पड़ेगा ॥

उत्तर—यदि आपने पण्डितों के साथ अनुशीलन किया है तो इस पुस्तक में मृतक श्राद्ध विषय में वेद वा ब्राह्मणों से कोई विधिवाक्य अवश्य प्रमाण में देना चाहिये था। जब नहीं दिया तो आर्यसमाज आप की क्या बात माने ॥

पितृ० २—आर्यसमाज के चौथे नियम की ओर ध्यान देकर मैंने इस पुस्तक को प्रकाशित किया है। आर्यसमाजी पक्षपाती नहीं हैं ॥

उत्तर—यह सत्य है कि आर्यसमाजी पक्षपाती नहीं परन्तु भ्राता जी ! चौथे नियम को काम लाते तो मृतक श्राद्ध का वेद वा ब्राह्मणों से विधिवाक्य तलाश करके देते, तब समझा जाता कि आप सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा तत्पर रहे। इस खींचातानी के लेखयुक्त पुस्तक से आर्यसमाजियों को आपने क्या लाभ पहुंचाया ॥

पि० ३—श्राद्ध कर्म ऐसा अपरित्याज्य विषय है कि आर्य्यसमाज आज भी उसे परित्याग नहीं कर सका है। उस की शास्त्रीय विधि का खण्डन और परित्याग कर देने पर भी प्रकारान्तर से किसी न किसी रूप में उसे वह करता ही जा रहा है॥

उत्तर—प्रियवर जी! उक्त लेख में आप की बड़ी भूल है कि जो शास्त्रोक्त विधि के खण्डन त्याग का आर्य्यसमाज पर कलङ्क लगाते हैं, और प्रकारान्तर को श्राद्ध बतलाते हैं॥

पि० ४—लाहौर का डी० ए० वी० कालिज स्वामी जी का श्राद्ध है। लेखराम मेमोरियल फण्ड पं० लेखरामजी का श्राद्ध है। पं० भगवानदीन जी और पं० गणपतिशर्मा का जब परलोक हुआ तब समस्त आर्य्यसमाजों में उनकी आत्मा को शान्ति मिलने के लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई थी इस प्रकार की प्रार्थना श्राद्ध के सिवाय और क्या कही जा सक्ती ? श्राद्ध भी तो एक तरह का स्मारक है॥

उत्तर—प्यारे भाई! आपने ऊपर लिखा है कि मैंने विद्वानों के साथ श्राद्ध विषय में अनुशीलन किया है सो यह बिलकुल धोखा है क्योंकि श्राद्ध स्मारक का चिन्ह नहीं किन्तु नित्य और नैमित्तिक पंचमहायज्ञों में से एक महायज्ञ है। यदि श्राद्ध को स्मारक चिन्ह माना जावे तो वह यज्ञान्तर्गत नहीं रहेगा क्योंकि किसी शास्त्र में श्राद्ध को मृतकों का स्मारक नहीं लिखा है। तथा आश्वालयन तथा गोभिल गृह्यसूत्रों में (श्रद्धया यद्दीयते तच्छ्राद्धम्) ऐसा ही अर्थ सब भाष्यकारों ने किया है और श्राद्ध विषयक मन्त्रों में जहां (अधिब्रुवन्तु) आदि पदों से पितरों से प्रार्थना

कि आप हम को उपदेश देवें इन अर्थों से भी आद्ध मृतकों का स्मारक चिन्ह नहीं हो सक्ता है कि जिस का प्रमाण हम आगे चलकर देवेंगे। पुनः जो आप इस प्रकारान्तर मृतकों के स्मारकचिन्हों को आद्ध बतलाते हैं यह आपकी बड़ी भूल है क्योंकि कोई भी आर्य्यसमाजी मृतक के स्मारकचिन्ह को आद्ध नहीं मानता। फिर आप मृतकात्मा की शान्त्यर्थ प्रार्थना को भी आद्ध बताते हैं यह विचार भी आप का शास्त्र-विरुद्ध है क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ सर्वव्यापक है सब का पिता है उस से प्रत्येक मनुष्य अपने सम्बन्धी के लिये शान्त्यर्थ प्रार्थना कर सक्ता है—इस को आद्ध कहना अनभिज्ञता है। अतः प्रकारान्तर को आद्ध मानने का भूत तो पौराणिकों के ही शिर पर चढ़ा है कि जिन्होंने जीवित माता पिता प्रपिता आदि और वसु रुद्र आदित्य संज्ञक वेदपाठी विद्वानों को परित्याग करके मृतकों के नाम पर जूता छाता पात्र सवारी धनादि पदार्थों का ग्रहण कर विद्वानों के और जीवितपितरों के सत्कार का नाशकर वेदपाठी और वेदोक्त यज्ञ आद्ध का लोप ही कर दिया। क्या आप इस प्रकारान्तर के आद्ध से जो कि गया में होता है कि जहां मूर्खपण्डे लाखों की सम्पत्ति लेकर निरक्षर महाकुकर्मी मांस मद्य वेश्या में रक्त होकर स्वदेश का नाश कर रहे हैं इसी दुर्गति के कूप में आर्यसमाज को अनुकर्षण करते हैं? शोक है आपकी बुद्धि पर॥

पि० ५—इससे आगे चलकर आपने पृष्ठ २ से ३ पृष्ठ पं० ५ तक लिखा है कि ईसाई लोग अपने पितरों की यादगार में मकान स्कूल कालिज वग़ैरा बनाते हैं॥

२ मुसलमानों की क़ब्रों से सारा हिन्दुस्तान छाया

हुआ है, ताजियेदारी मुहम्मद साहब का श्राद्ध सब पर ज़ाहिर है जैनी भाई तीर्थङ्करों की मूर्त्तियां और अपने स्वर्गवासी भाइयों की यादगार में पाठशाला आदि बनवाते हैं ॥

३ सिक्खों का नानकद्वारा दादूदयाल जी का आसा (ताक़) ये सभी तो श्राद्ध हैं ॥

इस भांति सभी धर्मों में श्राद्ध माना जाता है। मरे हुओं की सद्गति के लिये सभी प्रार्थना करते हैं तब श्राद्ध ने क्या बिगाड़ा है जो उस से शान्ति नहीं मिलेगी ? आज कल आर्य्य भाई भी मरे हुओं को पुस्तकें बनाकर समर्पण करते हैं। इस में और श्राद्ध में क्या फ़र्क़ है ?

उ०—जब कि आप ईसाई मुसलमान, सिक्ख, जैनी, आदि के स्मारक चिन्हों को श्राद्ध मानते हैं जो कि मृतक श्राद्ध का खण्डन करते हैं तो फिर क्यों काग़ज काले किये कि श्राद्ध सब में होही रहा है प्रार्थना भी करते ही हैं इसी में सन्तुष्ट रहते ॥

परन्तु आप का लेख परस्पर विरुद्ध है, अभी तो स्मारकचिन्ह और प्रार्थना को श्राद्ध माना, पुनः लिखते हो कि श्राद्ध ने क्या बिगाड़ा जो उससे शान्ति न मिलेगी। यह लेख साबित करता है कि अभी तक आपने स्मारक व प्रार्थना तथा श्राद्ध शब्दों के शब्दार्थ वा लाक्षणिकार्थ व सिद्धान्त को नहीं समझा है किन्तु भ्रमात्मक हो रहे हो ॥

वाल्मीकिरामायण मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र जी का स्मारक चिन्ह है परन्तु वह विद्यमान मनुष्यजाति के लाभार्थ है क्योंकि उन के सच्चरित्रों को सुनकर अन्य मनुष्य भी सदाचारी होवें, परन्तु विद्या, बुद्धि, सच्चरित्र के प्रकाशक इति-

हासादि ही उत्तम स्मारक हो सक्ते हैं। मूर्त्ति मकान क़ब्र ताज़ आदि से कुछ किसी का सुधार नहीं और नाहीं ये चिन्ह मृतकों के लाभार्थ हो सक्ते हैं। और न यह श्राद्ध-पद्धति में दाखिल है॥

जैसे अपने सम्बन्धी की उन्नति के लिये किसी हाकिम की सेवा में प्रार्थना करते हैं परन्तु उन्नति करना न करना हुक्काम के अधिकार में है इसी प्रकार से परलोकगत आत्मा की सद्गति के लिये राक्षस असुर द्विज सभी ईश्वर से प्रार्थना करते हैं परन्तु यह श्राद्धपद्धति के अन्दर नहीं॥

श्रद्धा पूर्वक माता प्रमाता वृद्धप्रमाता पिता प्रपिता प्रपितामह आदि पितरों को खीर मोहनभोग दूधदधि घृत कन्द मूल फल आदि उत्तम पदार्थों से तृप्त करना और अपने कल्याण के लिये उन के सदुपदेश को ग्रहण करना यही अभिप्राय श्राद्ध और तर्पण का सर्ववैदिक ग्रन्थों में है, परन्तु मृतकश्राद्ध ठगई का जाल है॥

पृ० ३ पं० ६ से—आर्यसमाजी जीवित माता पिता को तृप्त करना ही श्राद्ध मानते हैं उन की यह बात ठीक नहीं क्योंकि पुत्र परदेश में है और माता पिता घर में हैं तो कैसे तृप्त करेगा?

उ०—चोखानी जी! मुझे आप की इस बात पर हंसी आती है कि आप कैसी बालबुद्धि की बात लिखते हैं। जब कि माता पिता वैदिक धर्मावलम्बी हैं तो उन का पुत्र भी वेदावलम्बी होगा। जब वह वैदिक धर्मावलम्बी होगा तो अवश्य ही वह जिस देश में होगा वहां से बज़रिये डाक अपने प्यारे माता पिता को उस देश के उत्तम २ पदार्थ कन्द मूल

फलादि वस्त्रादि भेजकर श्रद्धा से तृप्त करता रहेगा और सदैव अभिवादन पूर्वक पत्र लिखता रहेगा और माता पिता भी पुत्र को बज़रिये पत्र आशिष और उपदेशादि से पुत्र का उत्साह बढ़ाते रहेंगे। फिर आपने यह बिन सोचे समझे कैसे लिख दिया? कदाचित् आपने कुराज्य समय की बात लिखी होगी तो वह आपत्तिकाल हुआ उसमें मर्यादा नहीं। परन्तु अब तो सुराज्य है आप जैसे सेठ कलकत्ते से मारवाड़ में स्थित अवश्य अपने वृद्ध माता पिता का श्राद्ध तर्पण बज़रिये डाक कर सक्ते हैं, परन्तु मृतकों का नहीं॥

पृ० ३-पं० १७ से——

१ वास्तव में श्राद्ध वही है जिसका शास्त्र में विधान है; शास्त्रविहित श्राद्ध में गुण ही गुण हैं। उस में विद्वानों को भोजन कराने और उन का सत्कार करने से विद्या की उन्नति होती है॥

२ आर्यसमाज के चौथे नियम के अनुसार मैंने यह पुस्तक लिखी है जो महाशय पुस्तक लिखने की तारीख़ से ६ महीने तक इस का यथावत् उत्तर छापेंगे उन को पुरस्कार या भेट रूप में एक सौ एक रुपये दिये जावेंगे॥

३ मैं पक्षपाती नहीं, निर्णय के लिये पुस्तक लिखी है यदि ६ मास की अवधि तक पुस्तक नहीं छपी तो जान लिया जायगा कि आर्यसमाज ने इस को मान लिया है॥

४ सं० १९५८ तक मैं श्राद्ध को अनावश्यक समझता था अब शास्त्र के अनुशीलन से आवश्यक समझकर मानने लगा॥

५ कालिज पार्टी वाले श्राद्ध को मानते हैं॥

६ जो आर्य्य भाई श्राद्ध को नहीं मानते हैं उनके लिये यह पुस्तक है॥

उ०—नं० १ निस्सन्देह श्राद्ध वही है जो वेद वा वेदानुकूल शास्त्रों में प्रतिपादित है परन्तु मृतकों के साथ श्राद्ध शब्द का सम्बन्ध नहीं किन्तु पितरों के साथ है; और पितर वे ही हैं जो अग्निमान् द्विज वेदपाठी विज्ञानी पुरुष हों मूर्खों में श्राद्धोक्त पितृत्व नहीं न मृतकों में। तथा विद्वानों ही का सत्कार करने से विद्योन्नति होती है॥

अङ्गं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मंत्रदम्।
नश्यन्तिहव्यकव्यानि नराणामविजानताम्॥

मनु०

नं० २—यदि चौथे नियम के अनुसार लिखी होती तो मृतक के साथ श्राद्ध का सम्बन्ध और उस का विधिवाक्य मन्त्रों से देते। जब विधिवाक्य नहीं दिया तो चौथे नियम का पालन कहां किया? महाशय जी! आजकल के ज़माने में आप जैसे शतशः मनुष्य अपने २ सम्प्रदाय के दबाव से वा लोकप्रिय बनने के लिहाज से वा लोभवश हुए असत्य को सत्य रूप में डालकर विद्वान् होने पर भी वेदविरुद्धता का प्रतिपादन करते हुए जनता के प्रवाह में बहे चले जा रहे हैं॥

यह कैसे चमत्कार की बात है कि सालों आपने चारों वेदों का अवगाहन कर लिया है अतः ६ मास की अवधि में कोई उत्तर दे देवे और आप मान भी जावें तब आप उस विद्वान् को १०१) रु० देकर निपटा करदेवेंगे। भला सत्य के ग्राहक विद्वानों को आप की ऐसी लुभाने वाली बातों से क्या प्रयोजन! आपको जिज्ञासा होवे तो जाओ उनके पास॥

३ क्या ख़ूब अहङ्कार के घोड़े पर सवार हैं मान न मान मैं तेरा मेहमान अब ६ मास व्यतीत हो गए और आप जैसों के लिखे हुए शतशः ट्रैक्ट रद्दी में पड़े हैं क्योंकि आर्यसमाज के पास तो इतना धन नहीं है कि जो गुरुकुलादि परोपकारी कार्यों को छोड़ कर रद्दी ट्रैक्टों का भी उत्तर छपाया करे, हां आवश्यकीय पुस्तकों का उत्तर अवश्य देना ही है। परन्तु आप अब ज़रूर भारत में डिमडिमा देदीजिये कि आर्यसमाज हार गया ॥

४ वह प्रमाण भी तो इस पुस्तक में लिखा होता कि जिस से १९५८ के बाद आप की कायापलट हुई याकि पौराणिकों के मायाजाल में फंसकर कहने लगे हो कि बुड्ढी तू चहे सो सच २ ॥

५ कालिज पार्टी वालों ने आप के कान में कह दिया होगा कि हम मृतकश्राद्ध को मानते हैं अथवा आपने उनके यहां मृतकश्राद्ध कराया था ?

६ अजी चोखानी जी ! आर्यसमाज की दृष्टि में आपकी पुस्तक क्योंकर खटक सकती है जब कि वह वैदिक फ़िलासफ़ी व दार्शनिक शैली से गिरी हुई है ॥

इति भूमिकासमीक्षा समाप्ता ॥

ओ३म्

अथ पितृयज्ञसङ्गतिसमीक्षा ।

पृष्ठ १–श्री हरिः–पितृयज्ञ की संगति

मेरा आर्यसमाज के साथ बहुत दिनों से सम्बन्ध चला आ रहा है इस लिये श्राद्ध के सम्बन्ध में मैंने आर्यसमाजी की दृष्टि से ही सभी कुछ सोचा है ॥ १

२–वेदों की अपेक्षा पहले में स्वामी जी की आज्ञा ही सन् १८७५ में छपे हुये स० प्र० पृष्ठ ४२ से उद्धृत करता हूं ॥

३–नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ॥

इस के आगे ब्रह्मादयोदेवास्तृप्यन्ताम् इत्यादि देव ऋषि और पितृतर्पण पृष्ठ १ से २ पं० १५ तक लिखा है ॥

४–पुनः पृष्ठ २ पं० १६ से पृष्ठ ५ पं० ६ तक मृतक श्राद्ध विषय में यज्ञोपवीत की विधि और मृतकों के श्राद्ध की पुष्टि में तर्क दिये हैं । तथा ५–(वसून् वदन्ति वै पितॄन्) यह मनुस्मृति अ० ३ का श्लोक प्रमाण में दिया है जोकि पृष्ठ ४७ से उद्धृत है ॥

उ०—हमने पृष्ठ १ से लेकर पृष्ठ ५ तक का चोखानीजी का सारा लेख इस लिये उद्धृत नहीं किया है कि वह हमारे इस उत्तरपक्ष में सब आजावेगा ॥

१ चोखानी जी ने पुस्तक के टाइटिल पेज पर तो पुस्तक का नाम (पितृयज्ञ की संहति) रक्खा है और जहां से लेख प्रारम्भ किया है वहां पर (पितृयज्ञ की संगति) लिखा है। सो ये दोनों ही वाक्य आप की पुस्तक में नहीं घटते हैं। हां यदि प्रथम वाक्य का यह अर्थ करें कि (पितृयज्ञस्य सम्यक्त्या हन्तीति पितृयज्ञसंहतिः) अर्थात् आपने अपने ग्रन्थ में वेदोक्त पितृयज्ञ का हनन किया है और अवैदिक मृतक यज्ञ को उस के स्थान में प्रतिपादन किया है ॥

द्वितीय (पितृयज्ञ की सङ्गति) यह इस लिये ठीक नहीं कि श्राद्ध वा पितृयज्ञों की ब्राह्मणोक्त वा श्रौतोक्त वा गृह्योक्त किसी पद्धति को लेकर उस की वेदमन्त्रार्थ के साथ सङ्गति लगाते तब तो उक्त वाक्य चरितार्थ होता। परन्तु ऐसा नहीं किया अतः असङ्गत है ॥

फिर आपने ग्रन्थ के आदि में (श्री हरिः) यह मङ्गलाचरण किया है इस से यह निश्चय होता है कि इस अवैदिक मंगलाचरण से आप निश्चय वाममार्ग मिश्रित पौराणिक हैं क्योंकि वाममार्गी शक्ति के उपासक हैं अतः वे स्त्री को आदि में और पुरुष को पश्चात रखते हैं अतः आप जो लिखते हैं कि मेरा आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध है सो यह लेख आप का अयुक्त है ॥

पुनः आर्यसमाज की दृष्टि में तो वेद ही स्वतःप्रमाण और सत्य विद्याओं का पुस्तक है। यदि वेददृष्ट्या आपने लिखा होता तो मन्त्रार्थ से मृतक श्राद्ध की पुष्टि करके दिखलाते अतः उक्त कथन भी प्रमादिक है ॥

२ आपने मृतकश्राद्ध के प्रमाणार्थ जो १८७५ के छपे सत्यार्थप्रकाश से वचन उद्धृत किये हैं इससे तो आप की बुद्धि की निर्बलता स्पष्ट ही है, क्योंकि जब पौराणिक लेखकों का धोखा देना और विष देकर प्राण हरण करना इस प्रकार के घोर पाप जैसे बालब्रह्मचारी शंकराचार्य के साथ पौराणिकों ने किये वैसे ही बालब्रह्मचारी स्वामी दयानन्द के साथ भी किया—यह किस बुद्धिमान् इतिहासज्ञ को विदित नहीं। वेदविरुद्ध मतवादियों ने महात्माओं को अनेक कष्ट पहुंचाये परन्तु उक्त महात्माओं ने तो भी मनुष्यमात्र का उपकार ही किया। आप दुःख सहा, परन्तु अन्यों के लिये धर्म अर्थ काम मोक्ष का मार्ग शुद्ध कर गए। फिर यह आपकी हठ और दुराग्रह नहीं तो क्या है कि जो उन के दिये हुए विज्ञापन को और वर्त्तमान सत्यार्थप्रकाशस्थ भूमिका को मिथ्या बताकर स० १८७५ के स० प्र० को ही प्रमाण में पेश करना और वेदों से मृतक श्राद्ध को सिद्ध न कर सकना॥

पस जो कुछ भी आप ने स० ७५ के सत्यार्थप्रकाश से प्रमाणार्थ उद्धृत किया है उस को पौराणिक छल से युक्त होने के कारण आचार्य ने विज्ञापन द्वारा तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका द्वारा ख़ारिज किया, अतः किसी को कोई अधिकार नहीं जोकि आर्यसमाज के सन्मुख उसको पेश करे

तीन वा चार सहस्र वर्ष के अन्दर २ वह कौन सा वैदिक ग्रन्थ है सिवाय वेदों के कि जिसमें वाममार्गी आदि मतवादियों ने अपने मत की पुष्टि के लिये अनेक वचन सम्मिलित न कर दिये हों। इसी कारण से श्री स्वामी शङ्कराचार्य तथा स्वामी दयानन्दजी ने (स्वतःप्रमाणपरतः प्रमाणं की राङ्गना

यत्र गिरंगिरन्ति- शङ्करदिग्विजये)। (वेद स्वतः प्रमाण हैं अन्य सब ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं अर्थात् ब्राह्मणादि अन्य ग्रन्थों में जो वेदानुकूल अंश है वह २ प्रमाण और अन्य वेदविरुद्ध सब अप्रमाण है (स०प्र०) आदि नियम निश्चित कर दिये ॥

इस लिये उक्त नियम के अनुसार आर्यसमाज के धर्म में वेदों को लेकर जो शङ्का करना चाहता है आर्यसमाज उस के संदेह को छेदन करने के लिये हर वक्त तैयार है। अब हम आप के दिये हुये वचनों का उत्तर लिखते हैं ॥

३–नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेवच॥ मनुःअ० ३

नित्यंप्रति स्नान कर पवित्र होकर देवता ऋषि और पितरों को तृप्त करे। परन्तु देवता किस से तृप्त होते हैं ?

सो कहते हैं कि अग्नि में समिदाधान अग्निहोत्र करने से क्योंकि देवता दो प्रकार के वेद में कहे हैं (पुनन्तु मादेवजनाः) (विद्वाँसोहिदेवाः) द्वितीय (अग्निर्देवता वातोदेवतेत्यादि) अग्नि वायु सूर्य चन्द्र वसु आदि जड़ देवता हैं अग्नि आदि देवता किस से तृप्त होते हैं ?

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन्श्राद्धैश्चनृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥
मनुः अ० ३। ८१ ॥

अर्थात् वेद के स्वाध्याय से ऋषियों का सत्कार और अग्न्यादि देवताओं का होम से और श्राद्ध से पितरों का और बलिवैश्वदेव से भूतप्राणियों का सत्कार करे ॥

इस से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मादि विद्वान् देवताओं को यज्ञ और भोजन वस्त्र धनादि से और अग्न्यादि देवताओं को हवन से और ऋषियों को अन्न धन वस्त्रादि और वेदाध्ययन से और पितरों को श्रद्धा—प्रीति से अन्न जलादि से तृप्त करे॥

इसके आगे जो आपने तर्पण लिखा है इसमें देवतर्पण और ऋषि तर्पण सो ठीक है, परन्तु पितृतर्पण में केवल दो जगह अर्थात् सम्बन्धी व सगोत्री शब्दों ही के साथ(मृतेभ्यः) शब्द जोड़ा गया है सर्व पितरों के साथ नहीं। इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि स्वामी जी मृतक श्राद्ध मानते होते तो सर्व पितरों के साथ मृतक शब्द का प्रयोग होता; दोही शब्दों के साथ में क्यों? इस लिये यह लीला अवश्य ही लेखकों की है इसी लिये स्वामी जी ने द्वितीय सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास और ऋ० वे० भा० भू० के २५१ पृष्ठ में इस वेद विरुद्ध लेख को निकाल कर शुद्ध कर दिया देखिये—द्वि० सं० प्र० समु० ४ पृ० ९९ से १०० तक॥

ब्रह्मादयोदेवास्तृप्यन्ताम् १ ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् ३ ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्॥ ४॥

यह सर्व वेदवेत्ता विद्वान् जानते हैं कि चतुर्वेदवेत्ता को ही ब्रह्मा कहते हैं तथा द्वापर के अन्त तक यज्ञों में ब्रह्मा उद्गाता अध्वर्यु ऋत्विज् होताओं के वरण होते रहे हैं फिर यहां मृतकों की क्या कथा? अतः चारों वेदों के ज्ञाता ब्रह्मा और वेदविदुषी ब्रह्माणी यानी ब्रह्माओं की स्त्रियां और

उन के वेदवित् पुत्र तथा शिष्यों और गण अर्थात् वेदवित् सेवकों को उत्तम अन्न जलादि से श्रद्धा पूर्वक (तृप्यन्ताम्) गृहस्थी लोग तृप्त करें ॥

मरीच्यादयऋषयस्तृप्यन्ताम् १ मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम् ॥

इस ऋषि तर्पण में भी मृतक का कोई वर्णन नहीं अतः मरीचि नाम सूर्य की किरणों का है तथा आदिसृष्टि में ब्रह्मा जी के प्रपौत्रादि भी मरीचि आदि ऋषि हुए हैं अतः यहां इवार्थ में समास है तब यह अर्थ होता है कि सूर्य की किरणों की तरह यद्वा मरीच्यादि ऋषियों की तरह जो पठन पाठन द्वारा वेदविद्या का प्रकाश करने वाले ऋषि और उन के समान ही अध्यापिका ऋषिपत्नियें तथा वेदपठन करने कराने वाले ऋषिपुत्रों और उन के विद्यार्थिगणों को भी प्रेम प्रीति से तृप्त करें। अब पितृतर्पण देखिये ॥

प्रथम-१ सोमसद २ अग्निष्वात्त ३ बर्हिषद ४ सोमपा ५ हविर्भुज ६ आज्यपा ७ सुकालिन् ८ यम ये आठ पितर तो सर्वोपकारी सब के पालक होने से सभी गृहस्थमात्र के पितर हैं क्योंकि जो ईश्वर तथा पदार्थविद्या में निपुण होकर सब का उपकार करें वे सोमसद पितर होते हैं २ जो अग्निविद्युद्विद्या के ज्ञान से मनुष्यों का उपकार करें वे अग्निष्वात्त पितर, ३ जो बर्हिषि अर्थात् व्यवहार विद्या में कुशल हो संसार में मनुष्यों को ठीक व्यवहार की शिक्षा देते हैं वे बर्हिषद ४ जो ऐश्वर्य की रक्षा के उपायों के ज्ञाता अथवा सोमलता महौषध के पीने पिलाने से जो प्राणियों के दुःख-

दलन करते वे सोमपा। ५ जो हविष्यान्न अर्थात यज्ञशेष को ही सदा खाते खिलाते जैसाकि महर्षि मनुजी कहते हैं:-

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः॥

(मनुः ११। ९५)

देवयज्ञ से शेष बचे हुए हविष्यान्न के खाने वाले ब्राह्मण को यक्ष राक्षस पिशाचों के अन्न जो कि मद्य मांस आसव हैं वे नहीं खाने चाहियें। वे हविर्भुज पितर हैं। ६ जो आज्य अर्थात सर्व प्रकार के घृतों का उपयोग अथवा अग्नि की विद्या के जानने वाले और उससे उपकार करने वाले हों वे आज्यप। ७ जो काल के स्वरूप को जानकर धर्मकार्यों ही में जीवनकाल को व्यतीत करते और अन्यों को भी कालव्यय के नियम बताकर सुखी करते कराते वे कालविद्या के ज्ञाता सुकालिन् कहाते हैं। ८ जो प्रजा में से दुष्ट डांकू चोर अधर्मी रूप कण्टकों को नष्ट कर रात्रिन्दिव प्रजा के सुख संपादन में निमग्न रहते हैं वे पितर यम कहाते हैं। इस प्रकार सब गृहस्थियों का परमकर्त्तव्य है कि श्रद्धा भक्ति से उक्त ८ प्रकार के पितरों को समय २ पर सेवा सत्कार अन्न जल दुग्ध घृत कन्द मूल फलादि से तृप्त किया करें॥

इस से आगे १ पिता २ पितामह ३ प्रपितामह ४ माता ५ पितामही ६ प्रपितामही ये छः पितर योनि सम्बन्धी हैं पूर्वोक्त ८ और ये ६ एवं ये १४ पितर जीवित हों तभी संसार का पालन यथेष्ट प्रकार से होता है। जिसदेश में इस प्रकार के पितर जीवित और सद्गुणी नहीं रहते उस देश के मनुष्य सदैव अविद्या से ग्रसित अपूज्यों के पूजक होकर नष्ट भ्रष्ट होते

है। अतः उक्त ६ योनि सम्बन्धी पितरों को भी श्राद्ध और तर्पण से सदा प्रसन्न किया करें अब आगे स्वपत्नी और सगोत्री और सम्बन्धी ये तीन भी जीवित हों तभी श्राद्धतर्पण हो सक्ता है।

अब आप सत्यासत्य के विवेकी हैं तो पक्षपात छोड़ कर विचारिये कि जब तक आप के इस आर्यावर्त्त देश में चतुर्वेदवक्ता ब्रह्मा और ब्रह्माणी विदुषी तथा उन के पुत्र शिष्य आदित्य ब्रह्मचारी ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य में स्थित रह कर चारों वेदों की विद्या के पढ़ने वाले और उन के सेवक शिष्यों के गण इस प्रकार के देवता पुरुष स्त्री और मरीचिवत् वेदादि शास्त्रों के अध्यापन करने वाले ऋषि और अध्यापिका ऋषिका तथा उनके पुत्र शिष्य सेवक अध्ययन करनेवाले ऋषि और १४ प्रकार के पूर्वोक्त पितर और सम्बन्धी सगोत्री आदि धर्मात्मा माता पिता वर्त्तमान थे उस समय कैसी उन्नति थी और जब से यह श्राद्धतर्पण वा पितृयज्ञ मृतकों के अर्थ में प्रवृत्त हुआ है तब से आपके देश की क्या दुर्दशा है ? क्या आप नहीं देखते हैं कि इस उत्तम यज्ञ को बिगाड़ कर मूर्ख अविद्वानों ने मुरदार मुरदों के नाम पर जूता छाता मकान सवारी भोजन ग्रहण कर २ के देश को किस अधोगति में ढकेल दिया है। क्या आप नहीं जानते हैं कि गया के मूर्ख मृतकों के मिष से कितने धनी होकर कैसे २ घोरपाप—मद्य, मांस, वेश्यागमन से ब्राह्मणकुल को कलङ्कित कर रहे हैं ? जिस के विषय में गतवर्ष 'वेङ्कटेश्वर—समाचारपत्र' ने बड़े दुःख के साथ प्रकाशित किया था कि इन पण्डों सण्डों को कभी दान नहीं देना चाहिये। इस के अतिरिक्त यदि दुर्जनतोषन्याय से मान भी लेवें कि मृतकश्राद्ध ही करना चाहिये तो भी आप की श्राद्धपद्धतियां जो कि गृह्य वा श्रौतों

में हैं, उन में भी वेदपाठी-ब्रह्मा, श्रोत्रिय सुपर्ण त्रिणाचिकेत स्नातक आदि बड़े २ तपस्वी ब्राह्मणों ही को श्राद्ध में सत्कारार्थ लिखा है, मूर्खों को नहीं। उक्त श्राद्धपद्धतियों से भी यही सिद्ध होता है कि जीवित विद्वानों ही के लिये श्राद्ध है, न कि मृतकों के लिये। परन्तु इस समय तो सारे ही श्राद्धकर्त्ता जीते मूर्खों का श्राद्ध कर रहे हैं, न कि मृतकों का और नाहीं जीते हुए वेदपाठी ब्रह्मचारी, सदाचारियों का॥

देखिये गोभिलगृह्यासंग्रह-कं० १, पृष्ठ ९७५; श्राद्धकल्प स्नातकान्-सूत्र ७—त्रयः स्नातकाः। विद्यास्नातकः १। व्रतस्नातकः २। विद्याव्रतस्नातकः ३॥ एकैकतोन् ८ यतीन् त्रिदण्डियों को कहते हैं॥ गृहस्थसाधून् वा ९ अथवा गृहस्थ और साधुओं को। श्रोत्रियान् १० वृद्धान् ११ अनवद्यान् १२। स्वकर्मस्थान् १३ श्रोत्रिय अर्थात् सकल्प ६ अङ्गों सहित जो वेदपाठी हो॥ १०॥ विद्यावृद्ध ११। निष्पाप॥ १२॥ अपने वर्णाश्रम के कर्म में तत्पर॥ १३॥ उक्त प्रकार के महापुरुषों को श्राद्ध में निमन्त्रित करे॥

अब विचारिये चोखानी जी! यह क्या हुआ कि दोनों दीन से गये। पांड़े खीर रही न मांड़े। न तो जीते पितरों का श्राद्ध रहा और मरे हुओं के नाम पर जो वेदपाठी स्नातकों का सत्कार कहा वह भी न रहा, फिर आप आर्यभाइयों को परोपकार से छुड़ाकर जो कि गुरुकुल अनाथालयादि उपकार कर रहे हैं, किधर पटकना चाहते हैं? आर्यसमाज का सिद्धान्त तो अटल है, क्योंकि आर्यसमाज जो जीवितपितरों का श्राद्ध मानता है वैसा ही आप करते हैं यानी जीतों ही को खिलाते हैं, मृतकों को नहीं॥

परन्तु भेद केवल इतना ही है कि आर्यलोग उस का फल जीवितपितरों की तृप्ति मानते हैं और आप मरों को मानते हो और मूर्ख मुषण्डों को खिलाते हो ॥

४—जो कि आप ने देवकर्म में उपवीती और ऋषिकर्म में निवीती और पितृकर्म में प्राचीनावीती यज्ञोपवीत के लिये लिखा है यह तो सभ्यता के नियम हैं, जिन को देखने से चतुर आदमी विना ही पूछे यह जान सके कि इस समय यज्ञकर्त्ता के यज्ञ में कौन देवता है और कौन ऋषि और कौन पितर हैं अर्थात् जिन के लिये सव्ययज्ञोपवीतपूर्वक भक्ष्यभोज्यचूष्य दधि, मधु, घृत, कन्द, मूल फलादि उत्तम पदार्थ परोस रहा है, उन को देवता और जिन के सन्मुख कण्ठगत यज्ञोपवीत से परोसा जा रहा है, वे सब ऋषि हैं तथा जिन के लिये अपसव्य जनेउ से परोसा जा रहा हो, वह पंक्ति पितरों की है। इस के अतिरिक्त जो सत्य क्रिया को परित्याग करके देवों के नाम पर एक अञ्जुलि पानी और ऋषियों के नाम पर दो दो अञ्जुलि और पितरों के नाम पर तीन २ अञ्जुलि आकाश को फेंकता जावे, यह सब देवर्षि पितरों का अपमानकारी पापकृत्य है और वेदविरुद्ध अप्रमाण है। शोक है कि देवर्षिपितरों को तो कोरा पानी, और मोहनभोग, लड्डू, कचोड़ी रड़ावें पाखण्डी! और वैश्यकुलभूषण आप जैसे सहायक हों ॥

१—भला धोखानी जी! जब आदिसृष्टि में अमैथुनी प्रजा थी तब मृतक देवर्षि पितर तो थे ही नहीं तो क्या शत वर्ष तक मृतकश्राद्ध बन्द ही रहा क्योंकि उनके माता पिता प्रपितादि तो थे ही नहीं और न मरे हुये ॥

२—कदाचित् कहो कि पूर्वकल्प के माता पितादि को चन्द्रलोक में पैदा कर दिया था, उन के लिये करें तो प्रश्न यह है कि चन्द्रलोक के पितरों के पितर कहां थे? क्या वहां पर श्राद्ध नहीं होता? जो कहो कि नहीं होता तो क्या वे वेदोक्त कर्म से हीन हैं और कोरे खड़िवत ही रहते हैं॥

३—क्या देवर्षि पितरों के पृथक् २ लोक हैं अथवा प्रत्येक लोक में देवर्षि पितर होते हैं? जो कहो कि पृथक् २ लोक में तीनों रहते हैं तो इस पृथिवीलोक में तीनों अर्थात् ब्रह्मादि अनेक देवता और मरीच्यादि सप्तर्षि ऋषि सोमसदादि पितर क्यों उत्पन्न हुए? जो कहो कि नहीं पितरलोक ही एक २ होता है तो पितरलोक में जब देवर्षि नहीं तो उन का जन्म व्यर्थ ही होगा क्योंकि ब्रह्मादि के तथा मरीच्यादि के न होने से यज्ञों की सिद्धि तथा वेदों का अध्ययन न होने से उन को नरक ही में गिरना होगा। अतः यह मृतकश्राद्ध ठगई का जाल क्यों नहीं?

(५) जो आपने मनु ३ अ० का श्लोक दिया है वह मृतकश्राद्ध को सिद्ध नहीं करता है॥ देखिये:—

वसून्वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी॥

(मनु० ३। २८४)

इस प्रमाण से मृतकश्राद्ध की कुछ भी सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत खण्डन होता है क्योंकि जो २५ वर्ष तक गुरुकुल में वास करके स्नातक होकर आवें उनकी वसु संज्ञा और जो ४४ वर्ष तक निवास करके ३ वेदों को सांगोपांग पढ़कर स्नातक

हों वे रुद्र और जो ४८ वर्ष तक गुरुकुल में निवास कर चारों वेदों की विद्या को समाप्त कर स्नातक हों उन की आदित्य संज्ञा है। इस लिये महर्षि मनुजी ने कहा है कि वसु स्नातक को श्राद्ध में पिता के बराबर आसन देना चाहिये और रुद्र स्नातक को पितामह के समान और आदित्य ब्रह्मचारी को प्रपितामह के समान आसनादि सत्कार से मान देना चाहिये यह सनातनी श्रुतियां कहती हैं जैसी कि छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ३ खण्ड १६ में श्रुति है। इसके विरुद्ध जो खंडित स० प्र० में वसु, रुद्र, आदित्य ईश्वर के नाम लिखे हैं सो वे ब्रह्मयज्ञान्तर्गत उपासना प्रकरण ही में ईश्वर के वाचक मानने चाहियें, श्राद्ध में तो स्नातक पितरों ही के विषय में हैं॥

इस के अतिरिक्त जो प्रतिषिद्ध स० प्र० से आपने तर्क दिये हैं उन का उत्तर निम्नलिखित देखिये॥

१ तृप–प्रीणने (प्रीणनंतृप्तिः) तर्पण नाम तृप्ति का–श्राद्ध जो श्रद्धा से किया जाता–जो मरे हुये पितरादिकों का श्राद्धतर्पण करना है इस से क्या आया कि जीते हुओं का अवश्य करना चाहिये॥

उ०—स० ७५ के सत्या० प्र० से जो तर्क श्राद्ध विषय में आपने उद्धृत किये हैं वे सब स्वामी जी के नाम से कपटरूप लेखकों द्वारा जो कि बाहर से आर्य और आभ्यन्तर से पौराणिक थे मृतकश्राद्ध विषयक लिखे गये थे जिन को कि ऋषि ने दुग्ध से मक्षिकावत् द्वितीय शुद्ध सत्यार्थप्रकाश से निकाल कर फेंक दिया अतः हम भी उन का खण्डन करते हैं देखिये॥

भला जीते हुये पितर तो अन्न जलादिक से प्रत्यक्ष में तृप्त होते हैं और श्रद्धा से सेवा करने से प्रत्यक्ष में आशीर्वाद देते हैं कि मृतकों के साथ सेवा और खान पान से तृप्ति का सम्बन्ध कैसे ? अतः यह कथन बालोन्मत्तवत् है। पुनः उत्पाद्योत्पादक पोष्यपोषक शिक्षणीय शिक्षक सम्बन्ध पूर्वक जीवात्मा और स्थूल शरीर के संयोग ही में पितृत्व संज्ञा है मृतक होने के पश्चात् जन्मान्तरीय स्थूल शरीर से युक्त जीवात्मा से इस जन्म के मनुष्यों का पितृत्व सम्बन्ध होने में कोई भी युक्ति प्रमाण नहीं। जो कहो कि लोक में ऐसा कहते हैं कि हमारे माता पिता मर गए वा स्वप्न में देखे थे यह भी कथन इसी जन्म के स्थूल शरीर की अपेक्षा से है न कि उत्तर जन्म की अपेक्षा से ॥

२–जो मृतकों का नाम लेकर श्राद्धतर्पण करेगा तो उसको ज्ञान होगा कि जैसे वे मर गये मुझे भी मरना होगा इस से अधर्म करने में भय और धर्म करने में प्रीति होगी ॥

उत्तर–मिथ्या पाखण्ड के रचने से यदि सत्य का ज्ञान होता तो आजकल ब्राह्मण लोग सारे कुटुम्ब के रोते हुए मृतक के नाम पर आंसुओं के द्रव्य को ग्रहण न करते तथा नित्य मृतकों को पिण्ड दिलाते हुये गयादि तीर्थों के पण्डा मद्य मांसादि अभक्ष्य और वेश्यागमनादि पापरूप कर्मों को कभी न करते अतः ज्ञान तो सत्यविद्यायुक्त वेदों के पढ़ने ही से होता है न कि मृतकों के स्मरण से ॥

३–दायभाग बांटने में सन्देह न होगा क्योंकि छः पीढ़ी तक सब का नाम कण्ठस्थ रहेगा ॥

उत्तर-क्या झूंठी कार्यवाही से ही छः पीढ़ी का नाम याद रह सकता है अन्य कोई विधि नहीं? विद्वानों को अपनी अनेक पीढ़ियों का वृत्त स्मरण रहता है तथा द्विज लोगों में सदैव से अपनी २ पीढियों के चरित्र लिखने की प्रथा थी। जो कहो कि मूर्खों को, तो मूर्खों को तो श्राद्ध करते हुए भी छः पीढी का हाल मालूम नहीं है। अतः दायभाग में मृतकश्राद्ध का सहारा ढूंढना स्वार्थियों का बहाना है॥

४—अब विद्वानों श्रेष्ठ धर्मात्माओं को दान दिया जायगा मूर्खों को नहीं इससे विद्वान् लोग जीविका के बिना कभी दुःखी न होंगे निश्चिन्त होकर सर्व शास्त्रों को पढ़ावेंगे मूर्खों का अपमान होने से वे भी विद्या ग्रहण में प्रीति करेंगे॥

उ०—भला वेद वेदांग के ज्ञाता विद्वान् वेदविरुद्ध मृतकश्राद्ध का अन्न कभी ग्रहण कर सकते हैं? हरगिज़ नहीं क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि (अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मण जीविकाम्) अर्थात् छल कपट माया और शठता से रहित शुद्ध जीविका से ब्राह्मण अपने जीवन की रक्षा करे॥

५—देव ऋषि पितृ संज्ञा श्रेष्ठों की है देव संज्ञा दिव्य कर्म करने वालों की है पठन पाठन कर्म करने वाले की ऋषि संज्ञा है और यथार्थ ज्ञानियों की पितृ संज्ञा है उन को निमन्त्रण देगा तो उन की बातें सुनेगा प्रश्न भी करेगा इस से उस को ज्ञान का लाभ होगा॥

उ०—सच तो यह है कि यह पांचवां गुण अवश्य स्वामी जी का ही उपदेश है क्योंकि इस लेख में तो देव ऋषि पितरों से बात चीत करके ज्ञान लाभ करना और उक्त संज्ञाओं .ा

ठीक २ अर्थ बताना यह पौराणिकों का लेख कदापि नहीं हो सकता है ॥

६—प्रयोजन यह है कि श्राद्धतर्पण आदि वेदोक्त कर्म करने के लिये वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ रक्खेंगे इस से उन का नाश न होगा और पदार्थविद्या प्रकट होगी उस से मनुष्यों को लाभ होगा ॥

उ०—उक्त प्रयोजन बहुत ही ठीक है प्रत्येक कर्म के साथ मन्त्रों का कण्ठस्थ रखना अत्यन्त आवश्यक है परन्तु मृतकश्राद्ध में तो मन्त्रों का विनियोग नहीं फिर अनृत कर्म में विनियोग करके क्यों पाप कमाना जैसे (शन्नोदेवी०) आदि मन्त्रों को नवग्रह शनिश्चरादि के शांत्यर्थ जपना कैसी मूर्खता है। यह (पितृयज्ञसंज्ञा के) पृष्ठ ५ पंक्ति ३ तक की समीक्षा पूर्ण हुई ॥

पृष्ठ ५ पंक्ति ३ से पृष्ठ ५ तक

१—यदन्नाः पुरुषा लोके तदन्नाः पितृदेवताः ॥
महाभारत। स० प्र० स० ७५ का पृष्ठ १४९ ॥

जो पदार्थ आप खाय उसी से पंचमहायज्ञ अर्थात् पितृदेवपूजा भी उसी से करे ॥

उ०—महाभारत के श्लोक का इतना कहना ठीक है कि जो अन्न आप खावे उसी से पितृयज्ञ करे परन्तु आपने जो पांचों यज्ञ शामिल कर दिये सो ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मयज्ञ में तो वेदपाठ और गायत्री का जप ही है ॥

२ (नोट)—रामचन्द्र जी ने बेरों से मिले हुए गोंदी के चूर्ण को दर्भ की सतह पर रख कर रोते हुए कहा कि महाराज प्रसन्न हों इस को आप भोगें ॥

उत्तर—श्राद्ध वेदोक्तकर्म है, इस विषय में प्रथम वेद को ही पूछना चाहिये कि श्राद्ध किस प्रकार और किस वस्तु से किस का करना चाहिये, उसी के अनुकूल इतिहास, पुराणादि का प्रमाण मानना चाहिये, वेदविरुद्ध कदापि नहीं। अतः रामायण का लेख वेद के सन्मुख कुछ हस्ती नहीं रखता॥

जैसे कि रामायण में लिखा है कि—

अवसद्रजनीमेकां कौशिल्या धर्मकाम्यया।
पतत्रिणा तदा सार्द्धं सुस्थिरेन तु चेतसा॥

(बालकाण्ड १४। ३४)

ऐसी २ ख़राब बातें महात्माओं के जीवनचरित्र में स्वार्थ-मार्गियों ने मिलाकर दुराचार को सदाचार के स्थान में रक्खा है। अतः सज्जनों को केवल वेद का ही आश्रय लेकर सर्व-ग्रन्थों को शुद्ध करना चाहिये वरना इस ज़माने में अनेक मतमतान्तरों के अन्धेरे में बिना वेदरूपी सूर्य के कभी सन्मार्ग हाथ नहीं लगेगा॥

३—ऊपर जो हमने सन् ७५ के स० प्र० के अवतरण दिये हैं उस से प्रकट होगा कि स्वामी जी तर्पण और श्राद्ध को मानते थे। यदि विरोधी होते तो खण्डन करते॥

४—सन् १८७५ में स० प्र० छपा और सन् १८७८ में उस के खण्डन का नोटिस निकला। क्या इतने दिनों तक उस पर स्वामी जी की दृष्टि नहीं पड़ी?

५—यदि कहो कि जब पुनः पुस्तक छपी तो संशोधन किया गया तो क्या अलग से मन्तव्य छपाकर शुद्धाशुद्ध पत्र की भांति उसी पुस्तक के साथ न जोड़ा जा सक्ता था?

६–जो नोटिस निकला उसमें भी कोई युक्ति नहीं क्योंकि ऐसा सार गर्भित सयौक्तिक लेख चार शब्दों से मिथ्या नहीं माना जा सक्ता॥

७–संस्कारविधि में तो सं० १९४७ तक छपता रहा अर्थात् स्वामी जी के देहान्त के बाद ७ वर्ष तक। फिर स्वामी जी का मन्तव्य परिवर्तन क्योंकर मान लिया जावे?

उ० ३—जिन दिनों में यह सत्यार्थप्रकाश लिखा गया था उन दिनों में स्वामी जी संस्कृतभाषा भाषण करते थे। स्वामी जी संस्कृत में बतलाते जाते थे और लेखकलोग उस की भाषा बना २ कर लिखते थे और स्वामी जी इस देश की भाषा भी बोलना अच्छी तरह नहीं जानते थे। अतः वे भाषा को देखने में असमर्थ रहे। इस के अतिरिक्त उसी सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ में जो राजा जयकृष्णदास ने अपना निवेदनपत्र छपवाया है उस को भी देखिये:—

निवेदन १–यह पुस्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने मेरे व्यय से रचा है और मेरे ही व्यय से यह मुद्रित हुआ है। उक्त स्वामी जी ने इस का रचना अधिकार मुझ को दे दिया है, इत्यादि। अब सेठ जी साहब आप निष्पक्ष आत्मा से विचारिये कि राजा जी का यह निवेदन कैसा परस्पर विरुद्ध और दोष से भरा हुआ है क्योंकि प्रथम तो यह लिखा है कि यह पुस्तक स्वामी जी ने रचा है फिर आगे चल कर इस के विरुद्ध लिखा है कि इस का रचना अधिकार मुझ को दे दिया है। पुनः तृतीय निवेदन में लिखा है कि शीघ्रता के कारण इस में बहुत अशुद्धियां रह गई हैं। भला जब कि स्वामी जी ने रचा तो राजा जी को

रचनाऽधिकार कैसा ? किन्तु छपाने का अधिकार था, इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा जी ने और लेखकपण्डितों ने अवश्य अपने मनमाने लेख रचे होंगे। द्वितीय बहुत अशुद्धियों का होना भी स्वीकार करते हैं। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट साबित है कि सन् ७५ के स० प्र० में बहुत बातें स्वामी जी के विरुद्ध मिलाई गईं इसी वास्ते स्वामी जी ने दूसरा सत्यार्थप्रकाश शुद्ध छपवाया॥

उ० ४-अवश्यमेव दृष्टि पड़ी और वर्षभर के पश्चात् ही स्वामीजी को ज्ञात हो गया था। इसका पक्का सबूत यह है कि श्रीमान् ठाकुर मुकुन्दसिंह जी रईस छलेसर ज़िला अलीगढ़ ने उस सत्यार्थप्रकाश को देख कर ही स्वामी जी को पत्र लिखा था कि मैं पार्वणश्राद्ध करना चाहता हूं; उस के लिये एक बकरा भी तय्यार है। आप कृपा करके पधार कर इस को विधिपूर्वक करा दीजिये। स्वामी जी उस समय काशी में थे। उन्हों ने उत्तर में लिखा कि जो सत्यार्थप्रकाश राजा जयकृष्णदास जी की मारफ़त मुद्रित हुआ है उस में कई स्थलों पर वेदविरुद्ध लेख छपगया है। इस लिये श्राद्ध के विषय में जो मांसविधान है और मृतकों का श्राद्ध है वह भी वेदविरुद्ध है क्योंकि आप को ज्ञात हो कि जो पञ्चमहायज्ञविधि शाके १७९६ आर्यप्रकाश यन्त्रालय मुम्बई में हमने छपाई थी, उस में हमने मृतकश्राद्ध का खण्डन किया है जोकि राजा जी के सत्यार्थ प्रकाश से एक वर्ष प्रथम मुद्रित हुई है। अतः इस वेदविरुद्ध कर्म को आप कभी भी नहीं करें॥

क्योंकि ठाकुर मुकुन्दसिंह जी स्वामी जी के परमभक्त थे, अतः उन्हों ने इस अनिष्टकर्म को नहीं किया॥

उक्त बातों से यह ठीक निश्चय है कि स्वामी जी को लोगों ने धोखा दिया और जब उन को ज्ञात हुआ उसी समय से उस के यत्न में लग गये थे, परन्तु वे कितना कार्य करते थे कि सर्वत्र देशदेशान्तरों में भ्रमण करके उपदेश देना, वेदभाष्य के लिये धन एकत्र करना, लेखकों को वेतन देना, कितने अधिक समय की आवश्यकता थी। इस पर भी सारे संसार के मतविरोधी! फिर केवल सत्यार्थप्रकाश के १२ के स्थान १४ समुल्लास लिखना और उस की छपाई के लिये शतशः मुद्रा की आवश्यकता! भला विचारिये तो सही कि तुरन्त ही १४ समुल्लास लिख कर और वेदभाष्य के भी अङ्क तय्यार करना यह कार्य थोड़े समय में कैसे हो सकता था? किन्तु बनने के पश्चात् भी दूसरा सत्यार्थ-प्रकाश धनाभाव से बहुत मुद्दत तक रक्खा रहा, फिर आप व्यापारी वैश्य होकर विना विचारे तानाज़नी करते हैं कि ३ तीन वर्ष तक क्यों न दृष्टि पड़ी॥

५—सेठ जी! यह भी आप की शङ्का व्यर्थ है, जब कि उस में कई स्थल वेदविरुद्ध हैं और भाषा भी अनेक जगह अशुद्ध है और १२ समुल्लास की जगह १४ समुल्लास किये गये तो शुद्धाशुद्धपत्र लगाने से क्योंकर कार्य चल सकता था?

६—नोटिस में सत्य २ भाव प्रकाशित किया गया है, परन्तु आप के आत्मा में पौराणिक कालिमा के होने से प्रकाशित नहीं होता है। हम आगे चलकर बतावेंगे कि नोटिस कैसा सच्चा है, परन्तु शोक तो यह है कि आप वैश्य होने पर भी श्राद्ध में मांसविधान और सूतक के स्थानापन्न होकर ब्राह्मणों को मांस खिलाना आदि विषय

को आप सारगर्भित और सयौक्तिक मानते हैं। आश्चर्य है!—(नासतः विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः) जब कि कृष्ण जी के इन थोड़े से शब्दों से अश्लील, कुरान, १८ पुराणों की सृष्टि=उत्पत्ति मिथ्या हो जाती है तो महर्षि के चार शब्दों से क्यों नहीं?

७ उ०—संस्कारविधि में जहां २ वेद विरुद्ध था वहां २ पर स्वामी जी ने उसी पुस्तक में खण्डन लिख दिया है फिर उस के खण्डन लिखने की दुबारा कोई आवश्यकता नहीं॥

जैसे कि (मांसौदनं पाचयित्वा) पर लिखा है कि यह वार्त्ता एकदेशी है मांस से अधिक गुण दूध दधि घृतादिक में हैं इसी तरह अन्नप्राशन में जो सूत्र हैं कि (अजामन्नाद्यकामः) (तित्तिरौ ब्रह्मवर्चसकामः) इन दोनों सूत्रों को भी एकदेशी कहकर अनादर किया है, किन्तु पहली संस्कारविधि सब के लिये सुगम नहीं थी अतः उसको सुगम और संस्कारों को आसान करने के लिये पुस्तक को घटाया बढ़ाया भी गया। ऐसा करने का ग्रन्थकर्त्ता को अधिकार था, इस से सिद्धान्त में क्या हानि हुई जो कि व्यर्थ ही आक्षेप करते हो?

पितृ० पृ० ६—स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाश को छपे जब पूरे ३ वर्ष हो गये तब बम्बई के निर्णयसागर प्रेस के छपे हुए ऋग्वेदभाष्य के मुखपत्र की पुश्त पर यह नोटिस निकला

विज्ञापनम्

१—सब को विदित हो जो २ बातें वेदों की और उन के अनुकूल हैं उनको मैं मानता हूं। विरुद्ध बातों को नहीं॥

२–इस से जो २ मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश वा संस्कार-विधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के बहुत से वचन लिखे हैं वे उन २ ग्रन्थों के मतों को जानने के लिये लिखे हैं। उन में से वेदार्थ से अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूं॥

३–जो २ बात वेदार्थ से निकलती हैं उन सब को प्रमाण करता हूं क्योंकि वेद ईश्वरवाक्य होने से सर्वथा मुझ को मान्य हैं॥

४–और जो २ ब्रह्मा जी से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त महात्माओं के बनाये वेदार्थानुकूल ग्रन्थ हैं उन को भी मैं साक्षी के समान मानता हूं॥

५–और जो सत्यार्थप्रकाश के ५२ पृष्ठ २५ पंक्ति में पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उस का तर्पण न करे और जितने मर गये हैं उनका तो अवश्य करे तथा पृष्ठ ५७ पंक्ति २१ से मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है–इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है सो लिखने और छापने वालों की भूल से छप गया है। इस के स्थान में ऐसा समझना चाहिये कि जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परमधर्म है। और जो २ मर गये हैं उन का नहीं करना क्योंकि न कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुंचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि के दिये हुए पदार्थों को ग्रहण कर सक्ता है॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है अन्य नहीं॥

६-इस विषय में वेदमन्त्रादि का प्रमाण भूमिका के ११ अंक के पृष्ठ २५१ से लेके १२ अङ्क के २६७ पृष्ठ तक छपा है वहां देख लेना ॥

इतिविज्ञापनम्

पूर्वोक्त विज्ञापन के विषय का (पि० सं०) के ७ पृष्ठ पर सेठ जी ने खण्डन लिखा है। देखो नीचे—

१-स्वामी जी के विज्ञापन में लिखा है कि मनु आदि का मत दिखा दिया तो क्या स्वामी जी मनु आदि का मत नहीं मानते ॥

उ०-सेठ जी ! आप सीधे और सच्चे विज्ञापन के आशय को न समझ कर क्या बुद्धिविरुद्ध शङ्का कर बैठे ? जब कि नं० १ में स्पष्ट लिखा है कि वेदानुकूल को मानता हूं वेद विरुद्ध को नहीं फिर विज्ञापन के नं० २ में लिखा है कि मनुस्मृति गृह्यसूत्रादि के जो वचन मेरे बनाये (स० प्र०) में लिखे हैं उन को वेदानुकूल होने से साक्षिवत प्रमाण मानता हूं क्योंकि वे उन ग्रन्थकर्ताओं के मत हैं अतः स्वामी जी का ठीक आशय यह है कि मनु आदि ऋषियों के ग्रन्थों में जो वेदानुकूल वचन हैं उन्हीं को प्रमाण मानता हूं विरुद्ध को नहीं ॥

२-तो मनु आदि के प्रमाणों से अपनी पुस्तक क्यों भरते और ऐसा क्यों लिखते कि ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त जो मानते आये हैं मैं वही मानता हूं। कोई नया मत नहीं चलाता ॥

उ०—महर्षि मनु आदि के प्रमाणों से अपनी पुस्तकों को इसी लिये भरा कि वे वेदानुकूल वचनों को साक्षीवत् प्रमाण मानते थे जैसा कि वि० के नं० २। ४ में लिखा है और ऐसी प्रतिज्ञायें सभी तपस्वियों ने संसार को कुमार्ग से बचाने के लिये लिखी हैं परन्तु स्वार्थी लोगों ने फिर भी उन की प्रतिज्ञाओं को दबाकर अपने स्वार्थ के लिये उन्हीं महात्माओं के नाम से अधर्म को धर्म का रूप देकर भारत के गौरव को धूल में मिला दिया। उसी गौरव को और महर्षियों की विमल कीर्त्ति को उज्ज्वल करने के लिये ऋषि दयानन्द ने ऐसा किया। क्या महर्षि मनु वा आश्वलायन गोभिल पारस्कर कात्यायन जैमिनि शौनक याज्ञवल्क्यादि यह जानते थे कि अगले ज़माने में वाममार्गी लोग हमारे ग्रन्थों में क़साईख़ाना हमारे नाम पर विधान कर देवेंगे। ऐसी दशा में यदि १२ वें अध्याय में महर्षि मनु का यह वचन न होता कि: —

या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्चकाश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्तानिष्फलाःप्रेत्य तमोनिष्ठाहिताः स्मृताः ९५

अर्थात् जो स्मृति वेदबाह्य हों और जो कुदृष्ट अर्थात् असत्तर्क हैं वे वेदविरुद्ध होने से परलोक में अफल दाता हैं क्योंकि वेदमूलक न होने से तमोगुण से निष्ठ हैं। फिर देखिये॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ ९६

अर्थात् जो शास्त्र वेदविरुद्ध होवें वे किसी न किसी मनुष्य से रचे जाते हैं इसी से वे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और वे

आधुनिक होने से निष्फल और अनृत से युक्त होते हैं॥

तो किस तरह ज्ञात होता कि मनुस्मृति में कौनवेदविरुद्ध वचन अथवा मनुजी का क्या सिद्धान्त था। परन्तु उक्त वचनों से अब निश्चय ज्ञात होता है कि जितने श्लोक आद्य में मांसविधान के अथवा अन्यत्र भी वेदाशय से विरुद्ध हैं वे मनुजी को मन्तव्य नहीं, इसी लिये ऋषि दयानन्द ने भी अपने मन्तव्य की रक्षा के लिये दश नियम तथा सत्यार्थ-प्रकाश के अन्त में ५१ सिद्धान्त तथा पूर्वोक्त विज्ञापन लिखे॥

सेठजी महाराज! विरोधी लोग तो अब भी स्वामी जी के सिद्धान्त में गड़बड़ कर देने के लिये दाव घात लगाते हैं दो तीन वर्ष की बात है कि अजमेर यन्त्रालय में (ऋग्वेदादि भा० भू०) छपते समय एक संशोधक पण्डित ने पाठ बदला था वह प्रेस कमेटी को ज्ञात हो गया तब उस को तुरन्त ही प्रेस से पृथक् किया गया था। अतः सभी ऋषियों ने अपने २ ग्रन्थों में अपने २ सिद्धान्त को विदित किया है उसी के अनुकूल स्वामी जी ने ब्रह्मा जी से लेकर जैमिनि पर्यन्त के वैदिकमन्तव्य को मान्य किया है। और उन्हीं की प्रतिज्ञानुसार उन के ग्रन्थों में जो अन्य वचन स्वार्थियों के मिलाये हुए हैं स्वामी जी ने जान कर उन को वेदविरुद्ध कहा है। जैसे कि-(चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्). इस प्रमाण से निश्चित है कि महर्षि व्यास जी ने २४००० सहस्र महाभारत रचा था, परन्तु अब कितना बढ़ गया और वह भी अब पर्व २ की श्लोकसूची से भी अधिक संख्या में है। इसी प्रकार से वाल्मीकिरामायण की दशा है। श्रीधर तथा रामादि टीकाकारों ने अनेक सर्गों

को प्रक्षिप्त बतलाया है, फिर आप सत्यप्रिय हैं तो क्यों हठ करते हो कि पहले सत्यार्थप्रकाश में और मन्वादिग्रन्थों में वेदविरुद्ध वचन नहीं मिलाये गये ?

पितृयज्ञसंहति के पृष्ठ ७ में:—

३—स्वामी जी के जीवनचरित्र में लिखा है कि किसी ने स्वामी जी से कहा कि आप भी एक शास्त्र बनावें, तब स्वामी जी ने उत्तर दिया कि यदि शास्त्र बनाने वाले ऋषियों के ज़माने में मैं होता तो अच्छे शास्त्र जानने वालों में भी मेरी शुमार न होती। इस से ज्ञात है कि स्वामी जी ऋषियों की कितनी प्रतिष्ठा करते थे। अब भला स्वामी जी ऐसा अण्डबण्ड विज्ञापन कैसे लिखते ?

अतः यह विज्ञापन स्वामी जी का नहीं—१ ॥

वर्त्तमान सत्यार्थप्रकाश १९४१ में छपा, स्वामी जी १९४० में स्वर्गवासी हुए। डेढ़ वर्ष बाद सत्यार्थप्रकाश छपा—२ ॥

स्वामी जी ने मनुस्मृति और गृह्यसूत्रों को प्रक्षिप्त तो माना नहीं, फिर यह क्या लिख गये ?—३ ॥

उत्तर १—यह सत्य है कि स्वामी जी वैदिक ऋषियों की बड़ी प्रतिष्ठा करते थे, अतः नवीन शास्त्र बनाने की उन को कोई आवश्यकता न थी; किन्तु उन का कर्त्तव्य तो वैदिक ऋषियों के सिद्धान्त ही को संसार के सन्मुख रखना था, सोई किया। अतः उन का विज्ञापन मुद्रारक्षस के भक्तों के हिमायती को अवश्य अण्डबण्ड दीखता है। जब कि उन के हस्ताक्षरयुक्त उन के जीवनकाल ही में विज्ञापन निकला था तो उन का क्यों नहीं ?

२-जब कि उन के हस्ताक्षरयुक्त १४ समुल्लासयुक्त स० प्र० वैदिक प्रेस में अब भी उपस्थित है तो डेढ़वर्ष बाद कैसे अप्रमाण हो गया ?

३-जब कि सत्यार्थप्रकाश सन् ७५ से एक वर्ष पेश्तर ही पञ्चमहायज्ञविधि पुस्तक में मृतकश्राद्ध का खण्डन लिख चुके थे और संस्कारविधि जो कि बम्बई में छपी थी उस में भी मांस का खण्डन लिख चुके थे तो इस से स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामी जी मनुस्मृति और गृह्यसूत्रादि ग्रन्थों में अवश्य प्रक्षिप्त अंश मानते थे ॥

देखिये पञ्चमहायज्ञविधिः बम्बई आर्यप्रकाशयन्त्रालय की छपी हुई। शाके १७९६, पृष्ठ १७ से पृष्ठ २१ तक तर्पण-विधिः-

यह पञ्चमहायज्ञविधि सम्पूर्ण संस्कृतभाष्य सहित छपी है, इस में भाषा नहीं है। अतः हम उस का पाठ स्वामी जी के संस्कृतभाष्य सहित उद्धृत करके सज्जनों की सेवा में उपस्थित करते हैं, जिस से कि सन् ७५ के स० प्र० के छपने के पेश्तर का मन्तव्य वर्त्तमान के स० प्र० के लेख से ठीक मिलान खाता है। इस से यह ठीक सिद्ध हो जावेगा कि जो पुस्तक स्वामी जी के अधिकार और दृष्टि में छपीं उन में सिद्धान्त की गड़बड़ न हो सकी, परन्तु सन् १८७५ का स० प्र० उन के अधिकार में व देखभाल में नहीं छपा था। अतः सिद्धान्त से विरुद्ध पांच स्थलों में स्वार्थियों को गड़बड़ करने का अवसर मिला ॥

अर्थात् तृतीय समुल्लास पृष्ठ ४५ में—होम में मांसविधान।

" " पृष्ठ ४७ में—मृतकश्राद्ध और मांस।

४ " पृष्ठ १४९ में—मधुपर्क १ यज्ञ २ पितृकर्म ३ में मांस।

५ " पृष्ठ १७१ में यज्ञ में पशुबध, परन्तु जितने उपकारी पशु हैं उन को न मारना, अनुपकारियों में से भी नर पशुओं को मारना तथा वन्ध्या गाय

१० " पृष्ठ ३०२। ३०३ में—यज्ञ में मांस का विधान।

बस इतना पाठ वेदविरुद्ध स्वार्थियों ने छपवाया सो उक्त विषय में कहीं भी वेदमन्त्र का प्रमाण नहीं दिया गया। अतः यह लेख वेदविरुद्ध होने से स्वामी जी ने अप्रमाण होने से ख़ारिज किया॥

शाके १७९६ की पंचमहायज्ञविधि पृष्ठ १७ पं० ११ से आगे:—

॥ अथ तर्पणविधिर्लिख्यते॥

भाष्य—तृप्यन्ति तर्पन्त्यनेन शिष्टान्धर्मात्मनो दिव्यगुणवतो ज्ञानिनस्तत्तर्पणम्॥

जिस कर्म से श्रेष्ठ धर्मात्मा दिव्यगुण वाले ज्ञानियों की तृप्ति की जावे उस को तर्पण कहते हैं॥

फिर देवतर्पण का भाष्य देखिये। अथ देवतर्पणम्

१ भा० चतुर्वेदविद्भ्यः तत्स्त्रीभ्यस्तादृशीभ्यस्तत्सुतेभ्यस्तत्तुल्येभ्यः तच्छिष्येभ्यो गणेभ्यश्च। ईदृशा जनाः देवा भवन्तीति वेद्यम्॥

अर्थात् चारों वेदों के ज्ञाता जो पुरुष और उन्हीं के सदृश उन की स्त्रियां चारों वेदों को जानने वाली और उन ब्रह्मा ब्रह्माणी आदि देवों के जो उभी प्रकार के विद्वान् पुत्र पौत्रादि तथा शिष्यगण हों इस प्रकार के मनुष्यों को देव कहते हैं। उन को श्रद्धा से तृप्त करना। इस के आगे ऋषितर्पण का भाष्य है॥ अथर्षितर्पणम्:-

२ भा० वेदादिविद्याध्यापकास्तद्विद्याध्येतारश्च र्षयोवेद्याः॥

अर्थात् वेदादि सत्य विद्याओं के अध्यापक तथा अध्येताओं को ऋषि जानना चाहिये॥

१ अथ पितृतर्पणम्-सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति॥ सोमगुणाश्चजनैर्ग्राह्याः॥

सोमसद्-जो सोम नाम ईश्वर में अथवा सोमयाग में लवलीन हों अथवा सोम्यगुण वाले जनों को ग्रहण करना चाहिये॥

२भा०-अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तोगृहीतोयैस्तेऽग्निष्वात्ताः। यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात्पदार्थविद्या (पृथिवी, जल, व्योम) यानयन्त्ररचनादिका सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैस्तेअग्निष्वात्ताः॥

जिन्हों ने भले प्रकार मन वाणी कर्म से भक्तियोग द्वारा ईश्वर को ग्रहण किया है वे अग्निष्वात्ता पितर हैं॥

अथवा अग्नि के गुणज्ञान द्वारा पदार्थविद्या को प्राप्त कर पृथिवी जल व्योम यान और यन्त्र रचनादि को जिन्हों ने प्रचार किया वे अग्निष्वात्ता पितर हैं॥

३ भा० बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शमदमादिषूत्तमेगुणेषु वा सीदन्ति ते बर्हिषदः॥

जो सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म में शमदमादि उत्तम गुणों में प्रवेश करते हैं वे बर्हिषद पितर हैं॥

४ भा०—यज्ञेनोत्तमौषधिरसम्पिबन्त पाययन्ति वा ते सोमपाः॥

जो यज्ञ के द्वारा उत्तम सोमादि औषधियों के रसों को पीते वा पिलाते हैं वे सोमपा पितर कहाते हैं॥

५ भा०—हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितं वृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषान्ते हविर्भुजः॥

जो यज्ञ से संशोधित वृष्टि जलादिक अन्नादि पदार्थों के भोगने और अन्यों को भी भुगवाने का स्वभाव हो जिन का वे हविर्भुज पितर हैं॥

६ भा०—आज्यं घृतं—अज गतिक्षेपणयो र्धात्वर्थादाज्यं विज्ञानम् पान्ति रक्षन्ति पाययन्ति रक्षयन्ति विज्ञानेन ये विद्वांसस्ते आज्यपाः॥

जो यज्ञों के लिये घृत का सेवन करें यद्वा आज्य नाम विज्ञान से सब की रक्षा करते कराते हैं वे आज्यपा हैं॥

७ भा०—ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च कालो

येषान्ते यद्वा ईश्वर ज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो येषान्ते सुकालिनः ॥

ईश्वरभक्ति व विद्या के उपदेश व ग्रहण करने ही में जिन का सारा समय व्यय होता है अथवा सदैवकाल ईश्वर ज्ञान की प्राप्ति से जो सुखी हों उन को सुकालिन् जानो ॥

८ भा०—पक्षपातं विहाय व्यवस्थाकर्त्तारः यमाः ॥

जो पक्षपात से रहित होकर प्रजा की ठीक २ न्याय पूर्वक व्यवस्था करने वाले हों वे यम नाम के पितर हैं ॥

९ भा०—सुष्ठुतया श्रेष्ठान्विदुषोगुणान् वासयद्भ्यस्तत्र वसद्भ्यश्च वसुभ्यः । विज्ञानाद्यनन्तधनेभ्यः स्वान् जनान् धारयद्भ्यः पोषयद्भ्यश्च यद्वा व्यापकायेश्वराय सर्वत्र वसवे ॥

अच्छे प्रकार श्रेष्ठ गुणों और विद्वानों को बसाने वाले वा उन में बसने वाले अथवा विज्ञानादि अनन्त धनों से अपने जनों को धारण पोषण के लिये जो वसुपदवी को धारण करने वाले पितर हैं उन का सत्कार करता हूं ॥

१० भा०—रुद्रेभ्यःपक्षपातरहितेभ्यः दुष्टान् रोदयद्भ्यः रुद्रायेश्वराय वा ॥

जो पक्षपात रहित दुष्टों को रुलाने वाले पितर हैं उन को तृप्त करता हूं ॥

११ भा०—आदित्यवदुत्तमान् गुणान्प्रकाशकेभ्यः विद्वद्भ्यः त आदित्याः ॥

जो सूर्यवत उत्तम गुणों के प्रकाशक विद्वान् हैं उन के लिये तृप्त करता हूं॥

१२ भा० पित्रादिसदृशीभ्यस्तत्स्त्रीभ्यः॥

अर्थात वसु रुद्र आदित्य संज्ञक पिता, पितामह, प्रपितामह के सदृश ही विदुषी वस्वी रुद्राणी आदित्या, माता, पितामही प्रपितामही जो स्त्रियां हैं उनके लिये तृप्त करता हूं॥

इस के आगे सगोत्री और आचार्यादि संबन्धी और स्वपत्नी इन को भी तृप्त करना लिखा है परन्तु जैसे कि (सन् ७५ के स० प्र०) में (मृतेभ्यः) शब्द आया है सो इस पञ्चमहायज्ञविधि में नहीं आया है॥

द्वितीय सिद्धान्त स्वामी जी के भाष्य से यह निकलता है कि माता पिता पितामह प्रपितामह पितामही प्रपितामही वास्तव में वेही स्त्री पुरुष हो सकते हैं जिन्हों ने प्रथम अवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर वसु रुद्र आदित्य पदवी प्राप्त करली हैं। इस के विरुद्ध विना ब्रह्मचर्य के जो विवाह हैं वेद की दृष्टि में न वे विवाह ही हैं और उन विवाहों से उत्पन्न जो संतान हैं उन सन्तान के वे माता पिता भी नहीं किन्तु शत्रु हैं क्योंकि कच्चे वीर्य से निर्बल मन्दबुद्धि संतान पैदा करने वालों में पितृत्व मातृत्व न होने से उन की गणना पितरों में नहीं हो सकती है। जब पितरों में गणना ही नहीं तो वे श्राद्धतर्पण के भागी भी नहीं हो सकते हैं। अतः वैदिकश्राद्धतर्पण की विधि वेदोक्त वर्ण और आश्रमों की स्थिति दशा में ही हो सक्ती है अन्यथा नहीं। जैसा कि मनु० अ० ३ श्लोक १९२। २१३ में लिखा है:—

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥

जो क्रोध से रहित, बाह्याभ्यन्तर से पवित्र, निरन्तर ब्रह्मचर्याश्रम का जिन्हों ने सेवन किया; शस्त्र के त्यागी, वेदविद्या और तप से महाभाग्यशाली, पूर्व आयु में ही जिन्हों ने देवत्व को धारण किया है ऐसे विद्वान् ही श्राद्ध के पितर हैं ॥

अक्रोधनान् सुप्रसादान् वदन्त्येतान्पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्तान्श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥

अर्थ-क्रोध से रहित, प्रसन्नमुख, वृद्ध सब लोकों को तृप्ति वा पवित्र करने में प्रवृत्त (यानी अग्नि में आहुति दी हुई सूर्य को मिलती, सूर्य से वर्षा, वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजा को तृप्ति) इस प्रकार यज्ञादि से तृप्त करने वाले द्विजोत्तमों को पण्डितलोग श्राद्ध के देवता कहते हैं ॥

स्वामी जी का लेख पञ्चमहा० पृ० २१ पंक्ति १६ से—

अनेन प्रमाणेन युक्त्या च विद्यमानान् विदुषः श्रद्धया सत्कारेण तृप्तिः कुर्यादित्यभिप्रायः ॥ श्राद्धदेवान्द्विजोत्तमानित्युक्तत्वात् ॥

अज्ञोभवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञंहिबालमित्याहुः पतेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ मनुः

इन उक्त प्रमाणों से और युक्ति से भी विद्यमान विद्वानों को ही श्रद्धापूर्वक सत्कार से तृप्ति करे, यही अभिप्राय है क्योंकि मन्त्रविद्यादाता ही पिता वा पितर हो सकते हैं ।

मूर्खों की पितरसंज्ञा कदापि नहीं, इस शास्त्रप्रमाण से यह बात सिद्ध हुई कि मूर्खों की और मृतकों की पितरों में श्राद्धतर्पण के लिये गणना नहीं ॥

इति प्राचीनपञ्चमहायज्ञविधौ पितृयज्ञः समाप्तः ॥

अब हम सेठ जी की सेवा में सविनय प्रार्थना करते हैं कि यदि आप के हृदय में सत्य के साथ प्रेम है तो विचारिये कि राजा जयकृष्णदास वाला सत्यार्थप्रकाश सन् १८७५ में उक्त राजा साहब के अधिकार से छपा, उसके समय को सन् १९१७-१८७५=शेष रहे ४२ अर्थात् बयालीस वर्ष हुए और स्वामी जी की छपाई हुई पञ्चमहायज्ञविधि आर्यप्रकाश प्रेस में शाके १७९६ में छपाई गई । अतः शाके १७९६ को वर्त्तमान शाके १८३९ में से घटाया तो शेष रहे ४३ वर्ष । एक वर्ष पेश्तर की स्वामीजी द्वारा निर्मित पञ्चमहायज्ञविधि में तो मृतकश्राद्ध का खण्डन और जीवित का विधान स्वयं स्वामी जी संस्कृतभाष्य में लिख गये, फिर यह कैसे हो सकता है कि एक वर्ष के बाद ही फिर सन् ७५ में मृतक-श्राद्ध और मांस का विधान करदें और वर्त्तमान सत्यार्थ-प्रकाश में फिर खण्डन करदेवें । अतः आपको सत्य का आश्रय लेकर यही मानना उचित है कि सन् ७५ के सत्यार्थप्रकाश में उस से एक वर्ष पूर्व की प्रकाशित पञ्चमहायज्ञविधि की अपेक्षा अवश्य स्वार्थियों ने गड़बड़ की, क्योंकि वह सर्वथा उन के हाथ में था और स्वामीजी को छपते समय प्रूफ़ भी नहीं दिखलाया गया । आगे आपकी इच्छा मानें या न मानें ॥

पि० य० पृष्ठ ८-अच्छा सं० १९४७ की छपी हुई संस्कार-विधि के इन वाक्यों का क्या अर्थ करेंगे ? " हाथ में जल

लेकर अपसव्य हो दक्षिण को मुख करके (ओं पितरः शुन्धध्वमिति) इस मन्त्र से पृथिवी पर जल छोड़े ॥ "

उत्तर-वाक्यों का अर्थ प्रकरणानुसार लगा करता है, जैसे (चत्वारिशृङ्गाः) इस मन्त्र का अर्थ महाभाष्य में तो व्याकरणविद्या में घटाया है, परन्तु याज्ञिकप्रकरण में यज्ञार्थ में लगाया है ॥

इसी प्रकार पितर शब्द का भी अर्थ प्रकरणानुसार ही करना चाहिये ॥

संस्कारविधि में (पितरः शुन्धध्वम्) समावर्त्तन प्रकरण में है ।-स्नातक ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थ के चिन्हों को धारण करता है अर्थात् अब वह पितृयान में आरूढ होने को है । इस लिये इस पितृमार्ग में क़दम रखता हुआ प्रार्थना करता है कि हे पितरो ! तुम लोग शुद्ध होओ, यह मैं प्रार्थना करता हूं क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करते ही उस पर तीन ऋण चुकाना वाजिब हो जाते हैं अर्थात् देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण जैसा कि धर्मशास्त्र में कहा है कि (त्रीन्ऋणानपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्) तीन ऋणों को चुका कर ही गृहस्थी मोक्ष में मन को लगावे ॥

अब पितर शब्द पर विचार है कि किन २ पदार्थों की पितरसंज्ञा है। शतपथब्राह्मण में लिखा है * कि छः ऋतुओं

---

* शतपथ-कां-२ । ८ । १ । ३:-

वसन्तो ग्रीष्मोवर्षाः ते देवा ऋतवः । शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवाऽपूर्य्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते सपितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः ॥ १ ॥

में से—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा की देवसंज्ञा है और शरद, हेमन्त, शिशिरकी पितरसंज्ञाहै। प्रश्नोपनिषद् के १ले प्रश्नमें संवत्सर के दो अयनों में से दक्षिणायन और उत्तरायण क्रमशः पितर और देवसंज्ञक कहे हैं। जिन में से दक्षिणायन में यज्ञ इष्टापूर्त्त की उपासना से चान्द्रगति की प्राप्ति मानी है। अर्थात् जैसे चन्द्रमा घटता बढ़ता है, तद्वत् जन्ममरण में उदयास्त रहता है। इसही गति को पितृयान कहा है (एष ह्वै रयिर्यः पितृयाणः) फिर कृष्णपक्ष और रात्रि को रयिः अर्थात् पितृयान कहा है। अतः स्नातक गृहस्थाश्रमाभिमुख और दक्षिणायनमार्ग की अभिलाषा करता हुआ दक्षिणको मुख करके, अपसव्य होकर प्रार्थना करता है कि मेरे सहायक संवत्सर का दक्षिणायन व कृष्णपक्ष व शरद, हेमन्त, शिशिर, रात्रि आदि दक्षिणायन पितर शुद्ध पवित्र हों ताकि मैं गृहाश्रम के धारण करने में पराक्रमी बनूं और यज्ञपूर्त्त कर्मों के द्वारा तथा रात्रि में ही रति के द्वारा तथा वसु, रुद्र, आदित्य संज्ञक पितर तथा इष्टापूर्त्त के उपासक ऋषि और उत्तरायणमार्ग में ले जाने वाले देवों का ऋण और उत्तम सन्तान से पितरों का ऋण चुका कर देवमार्ग की तरफ जा सकूं। इसी लिये स्नातक अपसव्य होकर और दक्षिण को मुख करके दक्षिणायन व सकामकर्म वा पितृयान में प्रवेश करने की कामना प्रकट करता है। पर जो ब्रह्मचारी सकामकर्म करना नहीं चाहता है, किन्तु उत्तरायण वा देवमार्ग में रहना चाहता है, वह समावर्त्तन को नहीं करता—या तो आजन्म ब्रह्मचारी रहता वा संन्यास में प्रवेश करता है (ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत) यह भाव है (पितरः शुन्धध्वम्) का ॥

पृ० ८ से पं० ५ से -

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥

संस्कारविधि पृष्ठ ७८। हजार कोई छिपावे कहीं ऊंट की चोरी छिप सकती है ?

उ०—उक्त मन्त्र बलिवैश्वदेव यानी भूतयज्ञ का है। भूत शब्द प्राणी और पंचभूतों का वाचक है बलिवैश्वदेव यज्ञ में नक्तंचर दिवाचर आदि भूत प्राणियों के लिये जैसे बलि दिया जाता है वैसे उन प्राणियों के अन्दर भी जो विना प्रयोजन के हमारा उत्तम पदार्थ देकर पालन करते हैं उन में भी पितरत्व है इस लिये उन को भी बलि देना चाहिये। जैसे मधुमक्षिका कस्तूरिया मृग आदि उत्तम शहद व कस्तूरी से हमको अनेक रोगों से मुक्त करते हैं, इसी लिये उनको पितृस्थान में नियुक्त करके प्रतिष्ठा पूर्वक उसी पितृयुक्त नियम में बद्ध होकर दक्षिणाभिमुख और अवमव्य होकर नित्यप्रति भाग देना चाहिये जैसे पूर्वोक्त वाक्य में स्नातक ने शरदादि ऋतु दक्षिणायन कृष्णपक्ष और रात्रि आदि पितरों में शतपथ और प्रश्नोपनिषदुक्तकाल में पितृत्व की स्थापना करके सकाम कर्म की पूर्त्ति के लिये समय के पितरभाग को पवित्र अर्थात् नैरोग्ययुक्त सत्कर्मपूरक होने की प्रार्थना की उसी प्रकार यहां भी पालक भाव से युक्त प्राणियों में पितृत्व की स्थापना है। द्वितीय बात यह है कि बलिवैश्व में तीन यज्ञ संयुक्त हैं प्रथम १० आहुति देवयज्ञ की, द्वितीय १६ बलि पञ्चमहाभूत और जड़ देवता तथा आकाश रात्रि और दिवाचर प्राणी और पितरस्थानी प्राणियों के लिये कही गई और तीसरा बलिप्रदान

६ भाग से युक्त काक कृमि आदि के लिये विधान है। अतः प्रकरणानुसार ही पितृ शब्दार्थ लेना चाहिये नकि शास्त्रविरुद्ध सर्वत्र मृतक अर्थ में ही लेते फिरें। और यह आप जानते ही हैं कि हवन के द्वारा वायु वृष्टि जलादि की पवित्रता और अग्नि के द्वारा यज्ञगत पदार्थ सूर्य की किरणों को प्राप्त होते उस से वृष्टि में सम्मिलित होते वृष्टि से प्राणिमात्र के लिये भोज्य भक्ष्य अन्न उत्पन्न होता उस अन्न में आप के हवन किये हुवे पदार्थों का भी अंश युक्त होता ही है अतः यज्ञ के द्वारा आप प्राणिमात्र का उपकार कर सकते हैं। और क्योंकि वे १६ बलि भी अग्नि के ही समर्पण करने लिखे हैं अतः आप समझ सकते हैं कि बलिवैश्वदेवयज्ञ में मृतक पितरों का क्या प्रयोजन? क्योंकि मृतक पितरों के लिये तो आप जिन्दा ब्राह्मणों को खिलाते हैं, अतः ऊंट की चोरी तो आपने बेशक की क्योंकि मृतकों के स्थान में जिन्दा ऊष्ट्रवत् निरक्षर भट्टाचार्यों को खिलाते और बताते हो कि हमारे मृतक पितर तृप्त हो गये। जो यह ऊंट की चोरी छिपाने पर भी न छिपी, तपस्वी ने ऊंट पकड़ लिये जो कि अब बोलते हैं और जीते माता पिता विद्वानों का सत्कार करा दिया, परन्तु शोक है कि आप का हृदय उन ऊंटों का रोना सुनकर दहल गया है। इसी वास्ते आप पुनरपि देवतारूप माता पिता और विद्वानों के श्राद्धतर्पण के माल को छीन कर उन्हीं ऊंटों का पालन करना चाहते हैं। शोक है! परमात्मा आप को सुबुद्धि प्रदान करें॥

पि० पृ० संहति पृष्ठ ८, पं० १३ से—

अध्यापक राजारामजी की इस उक्ति पर विचार करो—गृह्यसूत्रों में कई बातें ऐसी हैं जिन का कोई उच्च प्रयोजन

कहना कठिन है हमने उन को ज्यों का त्यों रख दिया है॥

उ०—भला उक्त पण्डितजी के लेख से और मृतकश्राद्ध से यहां क्या सम्बन्ध ? उन्हों ने तो अपनी सज्जनता वर्णन की है कि जिस विषय को हम नहीं जानते उस में अपनी अज्ञता लिखना ही सज्जनता है॥

पि० पृ० संहति पृष्ठ ८, पं० २१ से पृ० ९ तक:—

यह तो सभी आर्यभ्राता मानेंगे कि व्याकरणप्रणेता पाणिनि मुनि स्वामी जी से पहले हो गये हैं उन्हों ने अष्टाध्यायी के सूत्रों में श्राद्ध शब्द का उपयोग किया है (प्रज्ञा श्रद्धार्चाभ्योणः ५ । २ । १०१) प्राज्ञः श्राद्धः । (श्राद्धमनेनभुक्तमिनिठनौ ५ । २ । ८) श्राद्धी श्राद्धिकः ॥ (चूडादिभ्य उपसंख्यानम्) वार्त्तिक-श्रद्धा प्रयोजनमस्य श्राद्धम् । (श्राद्धे शरदः ४ । ३ । १२) शारदिकं श्राद्धम् ॥ तो क्या पाणिनि भी मिथ्या लिख गये ?

यदि कहो जीवित का श्राद्ध किया जाय तो माता पिता स्वयं पालक हैं वे स्वयं गृहस्थी के अधिपति हैं उन का दिया भोजन सन्तान को मिलता है फिर उन का श्राद्ध कैसे?

उ०—पाणिनि जी के उक्त सूत्रों में प्रत्यय प्रकृति से शब्दसिद्धि की गई है सो उस को सभी मानते हैं तथा श्राद्ध को भी मानते हैं फिर मृतकों से यहां इन सूत्रों में तो कोई सम्बन्ध नहीं अतः पाणिनि जी का लेख मिथ्या नहीं॥

जब ब्रह्मचारिगण समावर्त्तन करके घर आकर विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें तभी तो उनको पितृयज्ञ वा श्राद्ध का अधिकार होता है फिर वे स्वयं द्रव्य कमाने वाले

होकर श्राद्ध करते थे। फिर माता पिता क्यों गृहस्थ की चिन्ता में पड़ें? क्यों कि ब्रह्मचर्य में तो ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ दो ही यज्ञों का अधिकार है गृहस्थ में पांचों यज्ञों का॥

पि० पृ० संहति पृष्ठ ९, पं० १० से १९ तक—

इटाली के जोज़फ़ मेज़िनी की जयन्ती—चीन जापान में श्राद्ध हो रहा है॥

उ०—भारत के महर्षियों की व्यवस्था वेदोक्त और सर्वहितकारी है पर हम एक देशी और हिंसाबुद्धि रखने वाले विदेशियों की वेदविरुद्ध बातों को क्यों मानें? ऐसा कौन अभागा है जो जीते माता पिता की अन्नपूजा न करके मृतकों के लिये भटकता फिरे और खिलावे जीते हुए अन्यों को और ज़ाहिर करे कि मा बाप को खिलाया अर्थात् पौराणिक पंथ के जन ही ऐसे महानुभाव हैं॥

अब पृष्ठ १० से १९ तक सेठ जी ने वेद मन्त्रों को उद्धृत करके केवल अर्थों में शङ्का की हैं, किन्तु मृतकश्राद्ध का विधान नहीं दिखला सके। देखिये नीचे लिखे मन्त्र॥

१ आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ यजुः अ० १९॥ १८॥

भाषा—जो (सोम्यासः) चन्द्रमा के तुल्य शान्त शमादि गुणयुक्त (अग्निष्वात्ताः) अग्न्यादि पदार्थविद्या में निपुण (नः) हमारे (पितरः) रक्षक जनक (ते) वे (देवयानैः) आप्त लोगों के जाने आने योग्य (पथिभिः) धर्मयुक्त मार्गों

से (आयन्तु) आवें (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (स्वधया) अन्नादि से (मदन्तः) आनन्द को प्राप्त हुवे (अस्मान्) हमको (अधिब्रुवन्तु) उपदेश करें ॥ इस मन्त्र पर सेठ जी शंका करते हैं कि कौन से धर्म मार्ग पर आवें यह साफ़ मृतकश्राद्ध है ॥

उ०—हम पूछते हैं सेठजी से कि आप कौन से मार्ग पर चल रहे हैं वैदिक मार्ग पर या पौराणिक मार्ग पर ? क्या धर्मयुक्त मार्ग आपको पसंद नहीं ? मालूम तो यह होता है कि उक्त मन्त्र में (अधिब्रुवन्तु) 'उपदेश करें'—इस वाक्य को देखकर सेठ जी घबड़ा गये हैं क्योंकि उपदेश तो जीवित पितर ही कर सकते हैं, मृतक तो कभी नहीं उपदेश करते देखे गये, इसी से शङ्का ठीक नहीं बनी ॥

अथर्व काण्ड १८ मन्त्र ४५ के भाष्य में सायण तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रमाण लिखते हैं—(सोम्यासः) सोमार्हा एवं गुणविशिष्टा पितृपितामहप्रपितामहाः ॥ यह अर्थ स्वामी जी के अर्थ से मिलता हुआ है ॥

२ आचयजानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हवि रभि-
गृणीत विश्वे । माहिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो
यद्व आगः पुरुषता कराम ॥

(अ० कां० १८ अ० १ । सू० १ । मं० ५२)

भाषा—हे (पितरः विश्वे) सब पितर लोगो आप लोग (जानु आचय) जानुप्रदेश को आकुंचन कर अर्थात् पालती मार सुखासन से (दक्षिणतः) वेदी के दक्षिण भाग में (निषद्य) बैठकर (इदम्) यह (नः) हम से

दिया हुआ (हविः) हव्य (अभिगृणीत) अच्छी तरह प्रशंसा पूर्वक ग्रहण कीजिये क्योंकि बिना खाये स्वादिष्ट अन्न की प्रशंसा नहीं की जा सकती है। (कर्त्तव्य विषय में कुछ अतिक्रम हो जाने से प्रार्थना करना उचित है) अतः हे (पितरः) पितर लोगों आप लोग (केनचित्) कोई छोटा वा बड़ा (आगः) अपराध हो जाने से (नः) हम को (माहिंसिष्ट) अनादृत मत करो क्योंकि (पुरुषता) अल्पज्ञत्व के कारण से अपराध (कराम) करते हैं, आप समाधान करके क्षमा कीजिये ॥

उपर्युक्त अक्षरशः सायणभाष्य का भाषानुवाद है ॥

इस पर सेठ जी की शङ्का—दक्षिण की तरफ़ घुटना टेक कर आज कल मृतक कर्म किया जाता है अपराधक्षमा की प्रार्थना मृतकों से होती है। उत्तर—सेठजी! ज़रा सायणाचार्य जी का भी भाष्य देखा होता तो आपको ठीक ज्ञान होता कि दक्षिण शब्द का सम्बन्ध वेदी के साथ है और जानु आकुंचन का पितरों के साथ, अतः आप की शंका नितान्त अविवेक से है ॥

३ आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिन्धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत तइहोर्जं दधात ॥ यजु० १९। ६३ ॥

भाषा—हे (पितरः) पितृलोगो आप (इह) इस गृहाश्रम में (अरुणीनाम्) गौरवर्ण स्त्रियों के (उपस्थे) समीप में (आसीनाम्) बैठे हुवे (दाशुषे) हवि देने वाले (मर्त्याय) मनुष्य तथा (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये (रयिम्) धन को

(धत्त) धरो (तस्य) उस (वस्वः) धन के भागों को (प्रयच्छत) दिया करो, जिस से (ते) वे स्त्री पुत्रादि सब (ऊर्जम्) पराक्रम को (दधात) धारण करें ॥

सेठ जी को इस मन्त्र पर विलक्षण ही शङ्का होती है, आप लिखते हैं कि घर में गोरी स्त्रियां न हों; काली, पीली हों तो कैसे हो ? तथा ज़िन्दा तो धन आप ही दे देते हैं॥

उत्तर—जब कि आप वेदों को ईश्वरीय मानते हैं तो ईश्वर से पूछते कि आप ने काली, पीली क्यों न रक्खी अथवा सायण से पूछा होता कि तुम ने क्यों अरुण वर्ण वाली अर्थ किया, पर आर्य तो सब गौर वर्ण वाले ही होते थे। भला सेठ जी ! कभी आप ने देखा है कि मृतकपितरों ने आकर धन दिया ? परन्तु यह सर्वसम्मत है कि ज़िन्दा वृद्धों से ही धनवान् होना सीखा जाता है, तभी धनवान् बनते हैं ॥

४ पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥

(य० अ० १९ । ३१)

भा०-(सोम्यासः) सोम के योग्य अथवा ऐश्वर्यवान् चन्द्रसम शांतियुक्त (पितरः) ज्ञानदाता, पालक वा जनक पितरलोग (पवित्रेण) पवित्रता और (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु से (मा) मुझ को (पुनन्तु) पवित्र करें। (पितामहाः) पिताओं के पिता (पवित्रेण शतायुषा) पवित्र सौ

वर्ष की आयु से (मा) मुझ को (पुनन्तु) पवित्र करें (प्रपितामहाः) पितामहों के पिता मुझ को पवित्र शत वर्ष की आयु से पवित्र करें, जिस से मैं सम्पूर्ण जीवन को प्राप्त होऊं ॥

इस पर सेठ जी की शङ्का—कोई जीवित पुरुष किसी को आयु कैसे दे सकता है ? और उस से पवित्रता की प्रार्थना भी अजीब है ॥

उ०—धन्य है, सेठ जी ! यहां तो धर्मशास्त्र को भी भूल गये । भला मृतक तो आप ही किसी गर्भाशय में पड़े होंगे या जन्म लेकर अपने माता पिता गुरुजनों से शिक्षा द्वारा आयु बढ़ाने की विधि प्राप्त करते होंगे; यहां आयु देने कैसे आवेंगे ? देखिये मनुवचन :—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥

यहां पर जीवितों की सेवा से आयु ही नहीं बढ़ती, किन्तु विद्या, यश, बल भी बढ़ते हैं ॥

५ आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् ।
यथेह पुरुषोऽसत् ॥ यजुः अ० २ । ३३ ॥

भा०—हे (पितरः) विद्यान्नादि से रक्षा करने वाले पितरो ! आप (यथा) जैसे यह ब्रह्मचारी (इह) इस संसार वा हमारे कुल में शरीरात्मबल को प्राप्त होके विद्या पुरुषार्थयुक्त (असत् । हो वैसे (गर्भम्) गर्भ के समान सुरक्षित (पुष्करस्रजम्) फूलों की माला धारण किये हुए

(कुमारम्) ब्रह्मचारी को (आधत्त) अच्छी प्रकार धारण कीजिये ॥

सेठजी की शङ्का-१ क्या आर्य पिता से कोई ऐसी प्रार्थना कर सकता है ? २ पिता न कह देगा कि जब ताक़त ही नहीं थी तो शादी काहे को करायी ?

उ०-वाह, सेठ जी वाह ! खूब समझे मन्त्राशय को । ओनामासिधम, बाप पढ़े ना हम । शोक है आप की बुद्धि पर ! ॥

मन्त्र का भावार्थ तो यह है कि विद्वान् पुरुष और स्त्रियों को चाहिये कि जैसे क्रम २ से देह के बीच में गर्भ बढ़ता है, वैसे अध्यापक वा अध्यापिकाओं को चाहिये कि अच्छी २ शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार और कुमारी को वेदादि सत्यविद्याओं से वृद्धियुक्त करें ॥

जब यह दशा आप की बुद्धि की है, तब तो आप (पातेन पतितो ब्रह्मा) के सगे भाई ही प्रतीत होते हैं । ज़रा वेदभाष्य को तो देखा होता ॥

६ ये च जीवाः ये च मृताः ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यै तु मधुधारा व्युन्दती ॥
(अथर्व० १८ । ४ । ५७)

भा०-(ये जीवाः) जो जीवित हैं (च) और (ये मृताः) जो मर गये हैं (च) और (ये जाता) जो उत्पन्न हुए हैं (च) और (ये यज्ञियाः) जो उत्पन्न होने वाले हैं । (यज्ञियाः जनिष्यमाणाः) (आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च) इत्यनेन कि प्रत्ययः यातेर्विच् । (तेभ्यः सर्वेभ्यः जीवेभ्यः मधुधाराव्युन्दती) उन सब जीवों के लिये मधु, मिष्टान्नादि

से युक्त (आज्यस्य) घृत की धारा कृत्रिमनदी की न्याईं बरसती हुई उन को तृप्त करने के लिये प्राप्त होवे ॥ इति सायणभाष्यम् ॥

सेठ जी की शङ्का—इसे मृतकसंस्कार का बताते हैं, परन्तु संस्कारविधि में न होने से यह मन्त्र ही निष्फल हो जावेगा ॥

उ०—सेठ जी ! कभी आप एक वेद का भी पारायण कराते और जब यज्ञकुण्ड में सहस्रधारा से घृताहुति होती तब इस मन्त्र का अभिप्राय आपको अवश्य ज्ञात होता कि यज्ञ के द्वारा चींऊटी से लेकर मनुष्यपर्यन्त सबको हविष्यान्न प्राप्त होता है क्योंकि—(अग्नौ प्राप्ताहुतिः सम्यगादित्य-मुपतिष्ठति । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः)

७ प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः । उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यसि वरुणं च देवम् ॥ अथर्व० १८ । १ । ४ ॥

भा०—हे जीव ! (प्रेहि २) जा जा (पूर्याणैः) पुण्यात्मा लोग जिस मार्ग से जाते हैं (येन) जिस मार्ग से (ते) तेरे (पूर्वेपितरः) पितृपितामहादि (परेताः) गये हैं (उभौ राजानौ) देदीप्यमान दोनों (यमं च वरुणं च) यम और वरुण (देवम्) देवता अर्थात् वायु और सूर्य (स्वधया) तेरी दी हुई यज्ञाहुतियों से प्रकाशित हुये विद्यमान हैं उन दोनों देवताओं को तू (पश्यसि) देख ॥

सेठजी की शंका—भला मरे मुर्दे के लिये प्रार्थना कैसी ? कुछ सम्बन्ध भी तो देखना चाहिये ॥

उ०-आपने तो बुद्धि को त्याग केवल हठ से काम लिया है। यदि सम्बन्ध को आप जानते थे तो अपना मन्त्रभाष्य भी तो दिया होता तब तो ज्ञात होता कि आप भी संस्कृतज्ञ हैं ॥ दोष तो एक महामूर्ख भी दे सकता है ॥

यहां तो ईश्वर ने यह भाव प्रकट किया है कि जो मनुष्य सत्कर्म करता है वही वायु और सूर्य के द्वारा अर्चिरादि मार्ग से उत्तम योनि को प्राप्त होकर वायु और सूर्य सकाश से सुख को देखता है ॥

८ ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा येचोद्धिताः । सर्वांस्तानग्नआवह पितॄन्हविषे अत्तवे॥१८।२।३४
येअग्निदग्धा येअनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । त्वं तान्वेत्थ यदितेजातवेदःस्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् १८। २। ३५

अथर्ववेदे

भाषा-(ये पितरः) जो पितर लोग (निखाताः) खनु-अवदारणे-वेदीखनन करके संस्कार से संस्कृत किये गये (च) और (ये परोप्ताः) परावपनं अर्थात् काष्ठवत् दूर जंगल में परित्यक्त किये गये (ये दग्धाः) जो अग्नि से संस्कार किये गये (येचउद्धिताः) और जो संस्कारोत्तर काल में सूक्ष्म शरीर के सहित वायु और सूर्यरश्मियों में स्थित हैं ऐसे बहुप्रकार के सर्व जीवों को (हविषे अत्तवे) हमारे यज्ञ में दिये हुवे हविष्यान्न को भोगने के लिये हे (अग्ने) अग्नि (आ वह) लाइये ॥ ३४ ॥ सायणभाष्य ॥

भाषा—(ये अग्निदग्धाः) जो अग्नि से संस्कार किये गये और जो (अनग्निदग्धाः) अग्निदाह से रहित खननादि से संस्कृत उन के शरीरों के परमाणु (मध्येद्दिवः) द्युलोक के बीच (स्वधया) हमारे किये यज्ञ के द्वारा (मादयन्ते) प्रफुल्लित शुद्ध वर्त्तमान हैं हे (जातवेदः) अग्ने ! (त्वं) आप (तान्) उन सब को (वेत्थ) यदि जानते हो तो (ते) वे सब (स्वधया) स्वधासम्बन्धी इस मेरे (स्वधितिं) पुत्र पौत्रादि से विहित यज्ञ को (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥

सेठजी की शंका—भोजन पहुंचाता है भाष्य में ही सब साफ़ है ॥

उ०—सेठजी ! इस शंका से तो हम आप के साथ सहमत हैं। यदि इसी को आप मृतकश्राद्ध मानते हैं तो अब मरों के नाम पर ब्राह्मणों को मत खिलाना, अग्नि में ही हवन करके जीवमात्र को पहुंचने के उद्देश्य को ही श्राद्ध मानना और यदि पाखाओं के वश में पड़े हुये कुछ का कुछ कहने लगे तो आप की बात का विश्वास नहीं रहेगा ॥

९ ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। य आक्षियन्ति पृथिवीमुतद्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ अथर्व०१८। २। ४९

भाषा—(ये) जो (नः) हमारे (पितरः) पालक (च) और (ये) जो (पितामहाः) पिता के पिता (च) और (ये) जो (अन्ये) अन्य रक्षक पालक (उत) विस्तृत (अन्तरिक्षं) अवकाश में (आविविशुः) यानों द्वारा प्रवेश

करते हैं और (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (च) और (ये) जो (द्याम्) सुखरूप स्थानों में बसते हैं (तेभ्यः) उन सब (पितृभ्यः) पितरों के लिये (नमसा) उत्तम अन्न जलादि पदार्थों से सत्कार (विधेम) विधान करें ॥

सेठ जी की शङ्का-इस से तो मृतक पितरों के श्राद्ध में कोई अन्तर नहीं रह जाता ॥

उ०—उक्त मन्त्र में तो मृतक पितरों के लिये कोई भी पद नहीं है न जाने आपने क्यों व्यर्थ ही काग़ज़ काला किया है ॥

१० यास्तेधाना अनुकिरामितिलमिश्रा स्वधावतीः।
तास्तेसन्तुविभ्वीःप्रभ्वीस्तास्तेयमोराजानुमन्यताम्

अथर्व० १८ । ३ । ६९ ॥

भाषा—हे पितरो (ते) तुभ्य=तुम्हारे लिये (याः) जो (धानाः) उत्तमान्न (तिलमिश्राः) तिलों से मिश्रित (स्वधावतीः) मधुर स्वादिष्टता से युक्त (अनुकिरामि-समर्पयामि) समर्पण करता हूं (ताः) वह अन्न (ते) तुम्हारे लिये (विभ्वीः) विभु सूक्ष्म होकर (प्रभ्वीः) तृप्तिकारक (सन्तु) हो और (राजा) प्रकाशमान (यमः) जीवात्मा तुम्हारे उन अन्नों को (अनुमन्यताम्) अनुकूलता से भोगने के लिये जाने ॥ सायणभाष्यम् ॥

सेठजी की शङ्का-तिल यव से तो श्राद्ध तर्पण ही होता है उसी का यह विधान है और चिता में तिल जौ कोई फेंकता नहीं और मन्त्र में चिता शब्द भी नहीं है ॥

उ०—सेठ जी साहब! तनिक सायणभाष्य को तो देखा होता और आप के मृतकस्थानी ब्राह्मण श्राद्ध में तिल जौ को चबाते नहीं तथा यह भी आपको ज्ञात नहीं कि तिल और जौ घी के साथ मृतक शव के किन दोषों को हनन करते हैं, अतः आपकी शङ्का अल्पज्ञता के कारण है। कुछ शास्त्राध्ययन किया होता तब पुस्तक लिखने बैठते तो शोभा थी॥

११ ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये। तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती॥ १८।३।७२

भा०—(ते) वे प्रसिद्ध (पूर्वे) पूर्वोत्पन्न ज्येष्ठ पितर (परागताः) दूर से आये हैं (च) और (ये) जो (अपरे) पीछे उत्पन्न हुए (पितरः) पितर हैं (तेभ्यः) उन सब के लिये (घृतस्य) घृत की (व्युन्दती) टपकती हुई (कुल्या) नदीवत करूवे की ऐंटुनी से (शतधारा) अनेक धाराएं (एतु) प्राप्त हों॥

सेठ जी की शङ्का—यह भी मृतकों ही के लिये है॥

उ०—उक्त मन्त्र में मृतक के वास्ते कोई पद नहीं है। अतः आप का कथन ठीक नहीं॥

१२ स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः।
स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः॥
अथर्व० १८। ८।

इस मन्त्र में से आप ने आदि का वाक्यखण्ड "स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः" इतना पद छोड़ दिया॥

भा०—(पृथिविषद्भ्यः) पृथिवी पर रहने वाले (पितृभ्यः) पितरों के लिये (स्वधा) यह पृथिवी मधुर, स्वादिष्ट

हो तथा (दिवि) पृथिवी के दिव्य स्थानों में और (अन्तरिक्षसद्भ्यः) पर्वतों की चोटियों पर अन्तरिक्ष में रहने वाले विज्ञानियों तपस्वियों के लिये यह (स्वधा) अमृत के समान मधुर, स्वादिष्ट अन्न तृप्तिकारक हो ॥

ये बारह मन्त्र आप ने मृतकश्राद्ध के सबूत में पेश किये परन्तु उक्त मन्त्रों में कहीं भी कोई पद ऐसा नहीं आया जिस से यह साबित हो जावे कि मृतकोद्देश से ब्राह्मणों को खिलाया जावे ॥

पिण्ड० पृ० १६, पं० १६ से—आद्धे शरदः—अष्टाध्यायी ।

शरद ऋतु में जो किया जावे वह शारदिकश्राद्ध है । आश्विनमास में जो हिन्दुओं में श्राद्ध होता है, जिसे कनागत कहते हैं कन्या के सूर्य से कनागत बन गया है ॥

उ०-उक्त कहना आप का श्रुति, स्मृतिविरुद्ध है । पाणिनिसूत्र से मृतकश्राद्ध की सिद्धि नहीं होती है, किन्तु श्राद्ध शब्द की सिद्धि है सो सभी मानते हैं ॥

पिण्ड० पृ० १७ से पृ० २४ तक सेठ जी ने पण्डित राजाराम जी कृत टीका पारस्करगृह्यसूत्र से मृतकविषय में उस का लेख उद्धृत किया है सो उस में से श्राद्धसम्बन्धी उचित लेख को उद्धृत करके उत्तर दिया जावेगा ॥

द्वितीय बात तो यह है कि (धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः) महर्षि मनु जी की आज्ञा है कि धर्म के जिज्ञासुओं को धर्म के विषय में सर्वोपरि मुख्य प्रमाण वेद ही है । अतः वेदविरुद्ध किसी की भी आज्ञा नहीं माननी चाहिये । वेद से आप ने मृतकश्राद्ध का कोई भी ऐसा

प्रमाण नहीं दिया है कि जिस से मृतकपिता, प्रपिता, प्रपितामह के स्थान में ब्राह्मणों को खिलावे और मृतकपितर तृप्त हो जावें और नाही युक्ति से भी यह सिद्ध होता है। अतः आप का लेख किसी विचारवान् के आत्मा पर क्या प्रभाव डाल सकता है ?

३-गृह्यसूत्र, श्रौत, स्मृति, ब्राह्मण, इतिहास आदि ग्रन्थों में वेदों के विरुद्ध अनेक स्थलों में-गाय घोड़ा बकरा आदि पशुओं के वध, मांस की आहुति देना, पुनः ब्राह्मणों को मांस खिलाना ऐसे अनेक क़साईखाने भरे पड़े हैं। इसी लिये उक्त विषयों के पोषक मांसभक्षी ब्राह्मण ही अधिकतर इस के पक्ष में हैं क्योंकि यदि मान लेवें तो उन के पास मांसविधायक प्रमाण न होने से उन को लज्जित होना पड़ेगा ॥

पृ० १७ में सूत्र-अधोदककर्म १, नाभ्योदककर्म ७ का अर्थ अशुद्ध लिखा है तथा सूत्र २७। २८। ४८। ४९ से लेकर ५५ तक सब वाममार्गीकृत हैं ॥

उदककर्म का अर्थ प्रेत को जलाञ्जलि देना नहीं, किन्तु जल से गृहशुद्धि, वस्तुशुद्धि, सचैल स्नान करना उदककर्म कहलाता है। अतः १। ७ सूत्रों का अञ्जलि देना अर्थ ग़लत है; २७। २८ भी प्रक्षिप्त हैं तथा ४८ और ४९ तो किसी गौमाता के शत्रु पिशाच ने ही घड़े हैं क्योंकि उन में प्रेत के लिये गोवध का विधान है। शेष भी ४९ से लेकर ५५ तक महर्षि पारस्करकृत नहीं हो सकते हैं। पुनः २३ से लेकर २४ तक जो स्मृतियों के प्रमाण दिये हैं वे सब वेदविरुद्ध हैं क्योंकि (या वेदबाह्याःस्मृतयः) यह मनुस्मृति

का प्रमाण पीछे दे चुके हैं कि वेदविरुद्ध स्मृति प्रामाणिक नहीं। अतः आपका लिखना व्यर्थ है॥

पि० पि० पृ० २४, पं० १७ से २६ तक—१ सनातनधर्मसभाएं कलियुग में मांस खाना वा पिण्ड देना अकर्त्तव्य मानती हैं॥

२—मांस का विधान तो विवाह आदि सब में है तो क्या विवाह प्रभृति संस्कारों को भी त्याग दोगे?

उत्तर—१ यह भी सफ़ेद झूंठ है कि सनातनी पौराणिक कलियुग में मांस के विधान को अकर्त्तव्य मानते हैं। यदि अकर्त्तव्य मानते तो किशनगढ़ रियासत में हुए २ सोमयज्ञ में मुख में चना भर के बकरा क्यों बध किया जाता और क्यों मांस का हवन किया जाता और पूर्व पश्चिम के सारे सनातनी क्यों मांस खाते हैं? अतः आप का लेख मिथ्या है॥

२-क्या आपको अभी तक भी ज्ञात नहीं है कि आर्य समाज के ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी वेदज्ञ आचार्य ने १६ संस्कारों में से मांसविधायक वेदविरुद्ध अंशों को निकालकर आर्यों के लिये शुद्ध संस्कारविधि बनादी है कि जिस के अनुकूल ही विवाहादि संस्कार होते हैं। अतः विवाहादि को आर्य्य लोग क्यों छोड़ें, किन्तु दुष्कर्म छोड़ते हैं, परन्तु आप नहीं छोड़ना चाहते॥

इस से आगे आपने पृष्ठ २५ से लेकर पृष्ठ ३१ तक जो वाल्मीकिरामायण के प्रमाण तथा पं० राजाराम जी की सम्मति मृतकश्राद्ध वा मांसादि के विषय में लिखी हैं ये सब

व्यर्थ हैं, क्योंकि वेदविरुद्ध होने से आदरणीय नहीं और न उक्त वाक्यों को वाल्मीकि जी की कृति मानते हैं, किन्तु जितना भी वेदविरुद्ध अंश है वह सब प्रक्षिप्त है। जो आप ने राजाराम जी की सम्मति लिखी है वह उन्हीं के लिये है। आर्यसमाज में जितने भी विद्वान् हैं और उनके लिखे हुये जितने ग्रन्थ हैं उन में जो भी ग्रन्थकर्त्ताओं की सम्मति हैं यदि वे १० नियम और ५१ सिद्धान्तों के विरुद्ध हों तो किसी आर्य को मन्तव्य नहीं अतः यह लेख भी व्यर्थ है॥

पि० पृ० ३२-पतन्ति पितरोह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः-

उ०—इस का अर्थ भी ठीक नहीं किया गया। देखिये ठीक अर्थ इस का-पिण्ड नाम ग्रास का है देखिये मनु० अध्याय ११ श्लोक २१६(एकैकंह्रासयेत्पिंडंकृष्णे शुक्ले च वर्धयेत) अतः वर्णसङ्कर सन्तान के उत्पन्न होने से कुल पतित हो जाते हैं और अन्नोदक के विना माता पिताओं को दुःखित करते हैं अर्थात् जिस कुल में वर्णसङ्कर सन्तान होती है वह माता पिताओं को श्रद्धा से ग्रास व जल नहीं देते हैं यही पिण्डोदकक्रिया का लुप्त होना है॥

पृ० ३३-विरोधेत्वनपेक्ष्यंस्यादसतिह्यनुमानम् मी० १।३।३

उ०—इस का अर्थ भी आप ने नहीं समझा। वास्तव में अर्थ यह है कि-(विरोधे) वेद और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में विरोध होने पर (अनपेक्ष्यं) ब्राह्मणादि ग्रन्थों की अपेक्षा नहीं अर्थात् प्रमाण नहीं करना चाहिये (असत हि) यदि विरोध न हो और मूल श्रुति दृष्टिगत न हों तो अनुमान करना चाहिये॥

इस सूत्र से आप का अभिप्राय सिद्ध नहीं होता है क्योंकि पितृयज्ञ जीते माता पितादि का साक्षात् ही श्रुतियों में विधान है तो अनुमान की क्या आवश्यकता है ॥

पितृ० य० स० पृष्ठ ३४, पं० ४ से—

स यदि पितृलोककामोभवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति । तेनपितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ छा० उ० प्र० ८ खं० २ ॥

देवादिवदपि लोके । वे० द० ३ । १ । २५ ॥

उ०—सेठजी ! आपने उक्त छा० व वे० द० का नितान्त विचार नहीं किया तभी आप एक अविद्या के चक्र में पड़ गये हैं ॥

उक्त छान्दोग्य की श्रुति का स्पष्ट अभिप्राय तब समझ में आता जब कि आप तृतीय खण्ड को १ श्रुति की विचार दृष्टि से देख लेते । देखिये—ऊपर से प्रकरण है कि जब योगी समाधियोग का अभ्यास करता है तब जो जो संकल्प चित्त में करता है उन संकल्पों से मन में खचित पूर्व वासनायें प्रत्यक्ष हो कर भासमान होती हैं इसी प्रकार से जब पितरों के दर्शन की कामना करता है तो अन्तःकरण में जो खचित भौतिक चित्र हैं वे प्रत्यक्ष होते हैं और उन से युक्त होकर योगी का चित्त प्रकाशित होता है। इसी तरह से माता बहिन ग्रन्थमाला आदि को समझिये परन्तु जब ब्रह्मध्यान में इन सब संकल्पों को निग्रह करके मगन होता है तबः—

तइमे सत्याःकामा अनृतापिधानास्तेषाञ्च

सत्यानाथ्ंसतामनृतमपिधानं यो यो ह्य-
स्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥

छा० ८ । ३ । १ ॥

सो ये पितर आदि की कामनायुक्त जो संकल्प से दर्शन होना है ये सत्य भाषित होने पर भी अनृत से सने हुये हैं अर्थात अन्तःकरण में विद्यमान इन चित्रों का अनृत अविद्या ढकना है, क्योंकि जो २ यहां से मर कर जाता है उस का यहां दर्शन नहीं पाता है ॥

अतः उक्त श्रुति से मृतकश्राद्ध का कोई सम्बन्ध नहीं है। अब रहा वेदान्त का सूत्र—उस का भी अर्थ देखिये ॥

देवादिवदपि लोके २ । १ । २५ जैसे लोक में सूर्यदेव औषधियों में व्यापक होकर सुखाता है, उगाता है, मेघ बनाता वर्षाता है। चन्द्रमा देवता औषधियों में रस डालता समुद्र के जल को उछालता अर्थात् जैसे यह देवता अपनी सामर्थ्य से ही बिना हस्तपाद शस्त्रादि साधनों के कार्य करते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म भी प्रकृति में व्यापक हुआ जगत् की उत्पत्ति, प्रलय, पालन, जीवों को पाप पुण्य के फल अपनी सामर्थ्य से सर्व कार्य कर रहा है। उस निराकार को किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। इस सूत्र में तो मृतकश्राद्ध की गन्धमात्र भी नहीं है। इस के आगे पृ० ३५ से ३९ तक पं० राजाराम, राजा फ़तहसिंह, आहिताग्नि बा० शिवनाथ तथा पं० भीमसेन की दुहाई दी है सो सब प्रयास आप का व्यर्थ ही है तथा जो ऋग्वेदीय ऋषितर्पण लिखा है वह भी बनावटी है। अन्त में

लिखा है कि (महासूकास्तृप्यन्तु) सो यह भी (पर्वतास्तृप्यन्तु) की तरह पौराणिक अन्धपरम्परा है तथा भीमसेन जी की 'श्राद्धमीमांसा' का उत्तर पृथक् लिखा जावेगा। इस के सिवाय जो यह लिखा कि स्वामी जी ने संस्कार के अन्त में लिखा है (यदि मृतक अपनी मृत्यु से पहले अनाथालय वा पाठशाला व वैदिकधर्म प्रचार के लिये धन प्रदान करे तो बहुत अच्छी बात है) सो यदि इस स्मारकचिन्हों ही को आप मृतकश्राद्ध मानते हैं तो बहुत अच्छी बात है। परन्तु इस पर भी आपका विश्वास नहीं है। कदाचित् मानो भी तौ भी आप को गया के पण्डा और मृतकान्न खाने वाले कोसेंगे ॥

पृष्ठ ४०—सुश्रुत संहिता का प्रमाण दिया है कि प्रेतों को पिण्ड देवे सो यह एक बीमारी है पिण्ड देना प्रक्षिप्त और मूर्खता है ॥

इसी प्रकार चरक में जो उन्माद के लक्षण लिखकर यह लिखा है कि इस प्रकार का उन्माद माता पिता से आया समझना चाहिये। इसमें मृतकश्राद्ध का क्या सम्बन्ध ? पुनः चक्रदत्त की भी गप्प लिख मारी है ॥

पृष्ठ ४१ से ४५ तक रघुवंश और मेस्मेरिज़म से श्राद्ध सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा की है। हमने मेस्मेरिज़म को इस विषय में अच्छी तरह परास्त किया है। पुनः परदेशियों के उदाहरण दिये हैं सो वैदिकधर्मालम्बी उन के पाखण्ड को भी उच्छेद करेंगे—ये बातें आर्यों पर प्रभाव नहीं डाल सकी हैं ॥

आगे पृष्ठ ४६ से ५२ तक वेही पुनरुक्त बातें हैं जिन का उत्तर हमने पीछे देदिया है। अतः पिष्टपेषण करना व्यर्थ है। अन्त में आप लिखते हैं कि—

मैंने इस पुस्तक में आद्ध को सिद्ध करने के लिये केवल स्वामी जी और आर्यसमाज के प्रधान २ वर्त्तमान विद्वान् पुरुषों की सम्मतियां ही दिखाई हैं। वेदादि शास्त्रों में इस विषय के जो प्रमाण हैं वे विस्तारभय से नहीं दिखाये॥

उ०—उक्त लेख में इतना अंश लिखना आप का ठीक है कि आप शास्त्रों के प्रमाणों से मृतकश्राद्ध के सिद्ध करने में अवश्यमेव असमर्थ हैं, इसी लिये आपने व्यर्थ ही उक्त पुस्तक के लिखने में परिश्रम किया॥

अब हम आप की सेवा में सविनय निवेदन करते हैं कि जो कुछ भी हमने आप की पुस्तक के उत्तर में लिखा है वह आप के चित्त को दुखाने के लिये नहीं, किन्तु सत्य बातों के ठीक २ समझाने के लिये लिखा है। यदि इस हमारे लेख के विषय कोई भूल हुई होवे तो उस को आप क्षमा करते हुए मेरे आत्मभाव की ओर दृष्टि देते हुए समझने में प्रयास उठावेंगे॥

मेरा सत्य सिद्धान्त यह है कि मैं मूलवेदों को ही अपना परमधर्म मानता हूं क्योंकि (वेदाभ्यासोहि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते—मनुः)। अन्य सब ग्रन्थों में जो अंश वेदानुकूल हो उसी का मान्य करता हूं तथा वेदों के अध्ययनार्थ ६ अंग सहायक मानता हूं क्योंकि (ब्राह्मणेन निष्कारणोधर्मः षडङ्गोवेदोऽध्येयोज्ञेयश्चेति)॥

अन्तिम निवेदन

लाला हरद्वारीमल जी चोखानी द्वारा लिखित 'पितृयज्ञ की संहति' वा संगति (जो कुछ भी कहो) नामक पुस्तक के सारयुक्त भाग की सप्रमाण समीक्षा हमने उपर्युल्लिखित पृष्ठों में करदी है। जो कुछ पुनरुक्त वा अप्रासंगिक है विस्तारभय से उस का उत्तर हमने देना आवश्यक नहीं समझा। आशा है इस समाधान को पढ़कर चोखानी जी का भ्रम दूर हो जायगा। और यदि उन्होंने वास्तव में ही जिज्ञासाभाव से अपनी पुस्तक छपाई है तो वे इस समाधान को पढ़कर सन्तुष्ट होंगे। इस के अतिरिक्त हम यह निवेदन कर देना भी आवश्यक समझते हैं कि हमने यह उत्तर निरर्थक वादविवाद के लिये नहीं लिखा है किन्तु निर्णय के लिये यह प्रयास किया है। हम सच्चे हृदय से चाहते हैं कि चोखानी जी को वा उन के सदृश अन्य किन्हीं सज्जनों को पितृयज्ञ या मृतकश्राद्ध की उपादेयता में अब भी कुछ विश्वास हो तो हम उन का भ्रम दूर करने को प्रस्तुत हैं। इस पुस्तक को पढ़कर जो कुछ भी भ्रम वा संशय शेष रहे उसको हमारे पास लिखकर भेजे जाने पर हम उस का यथोचित समाधान 'भास्कर' पत्र में छपा देंगे॥

लाला हरद्वारीमल जी की पुस्तक चैत्रसुदी १ संवत् १९७५ को प्रकाशित हुई है और आज द्वितीय भाद्रपद वदि १ संवत १९७४ है। इस प्रकार उनकी पुस्तक को छपे ५॥ मास हुए हैं चोखानी जी का विज्ञापन था कि "जो महाशय पुस्तक छपने की तारीख से छः महीने तक इस का यथावत् उत्तर

छापेंगे, उन को पुरस्कार या भेट रूप में १०१) प्रदान किये जावेंगे। और मैं उनका बहुत २ कृतज्ञ होऊंगा। मुझे कोई पक्षपात नहीं है। मैंने निर्णय के लिये यह पुस्तक लिखी है।" इस विज्ञप्ति के अनुसार यदि मृतकश्राद्ध की असारता में हमारे लेख से चोखानी जी को विश्वास हो जाय तो हम १०१) पुरस्कार या भेट के अधिकारी हैं, पर यह याद रखना चाहिये कि इस विषय में जज भी स्वयं चोखानी जी ही हैं। हमने यह पुस्तक पुरस्कार या भेट के लालच से नहीं लिखी है। वैदिकधर्म का प्रचार करना और उस के सिद्धान्तों में जिस किसी को संशय हो उस को दूर करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। उसी कर्तव्यबुद्धि से प्रेरित होकर हमने यह प्रयास किया है। यदि चोखानी जी का हृदय हमारी समीक्षा को ग्रहण करने को उद्यत हो तो उनका कर्तव्य है कि वह १०१) किसी आर्यसंस्था की सहायता में भिजवा देवें। उनकी विज्ञप्ति के अनुसार छपते ही इस पुस्तक की एक कापी चोखानी जी की सेवा में भेजदी जायगी। ततःपर कुछ करना न करना चोखानी जी के हाथ में है॥

चोखानी जी की युक्तियां कैसी निस्सार हैं वह नीचे लिखे हुए उनकी भूमिका के एक अवतरण से प्रतीत होगा। वह लिखते हैं कि "हर्ष की बात है कि कालिज पार्टी वाले प्रायः श्राद्ध को मानते हैं।" इस स्थापना की सिद्धि में लिखिये या प्रमाण में, आगे चलकर चोखानी जी श्रीमुख से फ़रमाते हैं कि "प्रसिद्ध देशभक्त लाला लाजपतराय जी के मुंह से कभी श्राद्ध की निन्दा या खण्डन नहीं सुना।" कैसी अच्छी युक्ति है! मानों यह निश्चित ही है कि लाला हरद्वारी

मलजी ने ला० लाजपतिराय द्वारा दी हुई समस्त स्पीचों एक २ अक्षर सुना है, लाला लाजपतिराय का कोई सा ऐसा लेक्चर नहीं हुआ जिस में घोखानी जी उपस्थित न हों। हम तो समझते हैं कि घोखानी जी ने लाला लाजपतिराय की समस्त स्पीचों को पढ़ा तक भी नहीं होगा, सुनने की तो बात ही क्या है; और मान लो लाला लाजपतिराय ने कभी भी अपने मुख से श्राद्ध का खण्डन नहीं किया तो इस से क्या यह सिद्ध हो गया कि कालिजपार्टी वाले आर्य भाई मृतक-श्राद्ध को मानते हैं? प्रायः ऐसी २ ही युक्तियें का आप की पुस्तक में बाहुल्य है॥

पौराणिकमतानुयायी ही मृतकश्राद्ध के बड़े पक्षपाती हैं। जीवित पितरों के श्राद्ध का तो वे नाम तक नहीं लेते। मुरदों की जितनी उन्हें चिन्ता है उतनी ही यदि उन्हें जीवित पितरों के श्राद्ध की चिन्ता होती तो अधिकांश हिन्दू गृहस्थ स्वर्गधाम की उपमा के योग्य बन जाते। पुराणों में मृतकश्राद्ध का सर्वत्र प्रतिपादन ही पाया जाता हो सो बात नहीं है। कहीं २ तो पुराणकर्त्ताओं ने ऐसी सच्ची बातें लिख दी हैं कि जिन को पढ़ कर अब भी लोग सिद्धान्त-विषय में भ्रम और धोखे से बच सकते हैं। कलियुग में क्या २ होगा और लोगों में किस प्रकार धर्मतत्त्व का ह्रास होता चला जायगा, इस विषय का वर्णन करते हुए बृहन्नारदीय पुराण के अष्टात्रिंश अध्याय में इस प्रकार लिखा है:-

द्विजाः कुर्वन्ति दम्भार्थं पितृयज्ञादिकाः क्रियाः।
अपात्रेषु च दानानि कुर्वन्ति च तथा नराः॥

(अध्याय ३८, श्लोक ४७ कलकत्ते की छपी)

इस श्लोक का शब्दार्थ यह है कि द्विजलोग दम्भ की ख़ातिर पितृयज्ञ आदि क्रियायें करेंगे तथा जनसाधारण अपात्रों को दान देंगे। पर बृहन्नारदीय पुराण भाषा जो नवलकिशोर प्रेस का छपा हुआ है, उस में पं० देवीसहाय शर्मा इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में करते हैं :-" अरु ब्राह्मण पाखण्ड जनावने को पितृयज्ञ आदि कर्म अर्थात् श्राद्ध आदि कर्म करेंगे। तैसे ही जन कुपात्र द्विजों को दान देने लग जायंगे "। ऐसे स्पष्ट शब्दों में मृतकश्राद्ध का खण्डन पुराण कर रहे हैं! हम भी तो यही कहते हैं कि मृतकश्राद्ध वैदिककर्म नहीं है, वैदिककाल में यह नहीं होता था, पाखण्डियों ने दम्भ में फंसकर, कलियुग में महाभारत के युद्ध के पश्चात्, वैदिक विद्वानों का लोप हो जाने पर इस का प्रवर्तन किया है। इस बात के एक नहीं अनेक प्रमाण मिल सकते हैं। जब पुराण स्वयं मृतकश्राद्ध का खण्डन करते हैं और उसे कलियुगी लीला बताते हैं तो इस विषय में पौराणिकों की वकालत करने वाले लाला हरद्वारीमल जी को इस अवैदिककर्म को वेदानुयायी आर्यसमाजियों के मत्थे मढ़ने का क्या अधिकार है और यदि " मेरी इस पुस्तक को पढ़कर एक भी आर्यभाई की मति गति श्राद्ध पर जम गई तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा " इन शब्दों के लिखने का वे अपनी पुस्तक की भूमिका में क्यों साहस करते हैं? बृहन्नारदीयपुराण के उपर्युक्त श्लोक के वर्तमान होते हुए यदि एक भी आर्य भाई की मति गति मृतकश्राद्ध पर जम गई तो क्या एक अवैदिक और कलियुगी कर्म के प्रचार का दोष लाला जी को परिणाम में न मिलेगा?

इस पुस्तक में तो जो कुछ लिखा गया है वह केवल चोखानी जी को ही लक्ष्य में रखकर लिखा गया है। मृतक श्राद्ध के खण्डन में इतने अधिक प्रमाण पाये जाते हैं कि यदि उन सब को एक जगह एकत्र किया जाय तो एक बहुत बड़ा पुस्तक तैय्यार हो। यतः पं० भीमसेन जी शर्मा इटावा लिखित 'श्राद्धमीमांसा' और पं० कालूराम अमरोधा निवासी लिखित मृतकश्राद्ध विषयक पुस्तक का उत्तर हमें अलग छपवाना है इस लिये उन दोनों पुस्तकों के उत्तर को भी यदि चोखानी जी साथ में पढ़ेंगे तो मृतकश्राद्ध की सिद्धि में दिये जाने वाले प्रमाणाभासों की क़लई उन के सामने बिलकुल खुल जायगी॥

अलमिति विस्तरेण

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

वैदिकसिद्धान्तग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला द्वारा विरोधियों की पुस्तकों के उत्तर दिये जाते हैं।

नीचे लिखी ७ पुस्तकें अब तक छप चुकी हैं—

(१) भक्तियोग और ईश्वरासिद्धि—इस में प्रमाणों द्वारा ईश्वरसिद्धि की गई है। श्रीयुत स्वामी सत्यानन्द जी (पञ्जाब) की ओजस्विनी भाषा में यदि आप भक्तिरस का आस्वादन करना चाहें तो इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये। मूल्य ।=)

(२) नियोगतत्त्वप्रकाश—इस में प्रमाणों द्वारा नियोग को आपद्धर्म सिद्ध किया गया है और वर्त्तमानकाल के एक पौराणिक लेखक की पुस्तक में से नियोग की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है, देखने योग्य है। मूल्य ।=)

(३) वास्तविक-वैदिक वर्णव्यवस्था—इस में पंडित अखिलानन्द की रची हुई वैदिक-वर्णव्यवस्था का समुचित उत्तर दिया गया है। मू० ।=)

(४) वास्तविक-वर्णव्यवस्था द्वितीय भाग—इस में पं० अखिलानन्द की पुस्तक का उत्तर है। श्री पं० भूमित्र शर्मा, आर्योपदेशक मेरठ के रचे हुये यह दोनों भाग हैं। मू० ।=)

(५) जीवेश्वरप्रकृतिवाद—ब्रह्म, जीव और प्रकृति ये तीनों अनादि हैं—पं० देवदत्त त्रिपाठी, नैनीतालनिवासी ने इस में यह सिद्ध किया है। नवीन वेदान्तियों के मत का खण्डन है। मू० =)

(६) नियोगमर्दन का विमर्दन—आर्यसमाज के प्रसिद्ध विरोधी सनातनी पं० कालूराम के रचे हुए नियोगमर्दन का उत्तर पं० भूमित्र शर्मा द्वारा रचित। मूल्य ।=)

(७) पितृयज्ञसमीक्षा–अर्थात् लाला हरद्वारीमल, चौखानी मिवासी निवासी लिखित ' पितृयज्ञ की संहति ' नामक पुस्तक का सप्रमाण उत्तर–जिसे श्री पं० भूमित्र जी शर्मा आर्योपदेशक ने लिखा है । मृतकश्राद्ध की इस पुस्तक में खूब पोल खोली गई है । मूल्य ।=)

इन पुस्तकों के अतिरिक्त प्राणायामशिक्षा, पुराणकलङ्कप्रकाश (जिस में पं० कालूराम के रचे पुराणकलङ्कामासमार्जन का उत्तर दिया गया है), पुराणसिद्धि नामक पुस्तक का उत्तर, श्राद्धव्यवस्था नामक पुस्तक का उत्तर, वैदिकधर्म और आर्यसभ्यता–ये पुस्तक और छपरही हैं । प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ।=) होगा । इकट्ठी लेने वालों के साथ मूल्य में रियायत की जायगी ।

मिलने का पता:–

मैनेजर भास्कर प्रेस मेरठ शहर

भास्कर मासिक पत्र

यह मासिक पत्र आर्यधर्म का पोषक तथा वेदविरोधिमतमतान्तरों के मिथ्या विश्वासों का निराकरण करता हुआ प्रत्येक मास की १५ तारीख़ को भास्कर प्रेस मेरठ से प्रकाशित होता है । वार्षिक मूल्य १ रुपया साढ़ाना है । आर्य तथा आर्येतर सब के काम का पत्र है । नमूना मुफ्त भेजा जाता है । ग्राहकों को हरएक वर्ष नये २ पुस्तक उपहार में मिलते रहते हैं । अवश्य ग्राहक बनिये ॥

मिलने का पता:–

मैनेजर भास्कर प्रेस मेरठ शहर

वैदिकसिद्धान्तग्रन्थमाला संख्या–१२

ओ३म्

ऋषियों का खानपान

अर्थात्

सृष्टमतावलम्बी अध्यापक विनोद बिहारी राय की बनाई हुई "ऋषियों का खानपान" नामक पुस्तक की समीक्षा

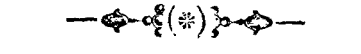

लेखक

श्री. पण्डित जे० पी० चौधरी काव्यतीर्थ रांची

प्रकाशक

रघुवीरशरण दुबलिस सम्पादक भास्कर मेरठ

मिलने का पता

१ मैनेजर भास्कर प्रेस मेरठ शहर

२ श्री० जे० पी० चौधरी अपर बाजार रांची

प्रथम संस्करण

मूल्य एक प्रति ।०) वार्षिक मूल्य ४॥)

सम्वत १९७५

Printed & Published by
Raghuvir Sharan Dublis at the
Bhaskar Press Meerut City.

सर्वाधिकारः प्रकाशकेन स्वायत्तिकृतः

हम नहीं समझते कि वैदिकधर्म त्याग कर आप ने कौन सी उन्नति करली ? सभ्यता का मूल सदाचरण है। जिस जाति में सदाचरण है, वह जाति अनपढ़ रहने पर भी सभ्य है। यद्यपि भारतवर्ष गिर गया है, वैदिकधर्म का प्रायः लोप हो गया है तथापि अब भी सदाचार में भारतवासी अन्य देशों की अपेक्षा किसी दर्जे कम नहीं है। जो कुछ अनाचार इत्यादि दोष इन में आगए हैं, वे अन्य जातियों के संस्पर्श से आए हैं। यदि वेद की शिक्षाओं का कालवश लोप न होगया होता तो कुछ एक अनाचारियों को देख कर अट्ट सट्ट लिखने का साहस आप को न होता। सर टामस मुनरो लिखते हैं कि यदि सभ्य जाति के लक्षण यही हैं कि उस में कृषिकी एक उन्नतपद्धति विद्यमान हो, अपने भोगविलासकी वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति हो, प्रत्येक ग्राम में पढ़ना, लिखना, हिसाब किताब सिखलाने के लिए पाठशालाएं हों, सर्वसाधारण अतिथि का सत्कार करने वाले हों, सर्वोपरि बात यह कि स्त्रियों का बर्ताव, विश्वास, आदर और नम्रता से पूर्ण हो (हां, यदि उपरोक्त बातें ही सभ्यजाति के लक्षण हैं) तो हिन्दू लोग योरोप की जातियों से कम सभ्य नहीं हैं। मुनरो साहब भी पाश्चात्य विद्वान्हैं

आप अनेक बुराइयों से भरे हुए मांस को ही तरमाल समझते हैं। यह बात भी तभी मानी जाती जब आप मसाला, घी के साथ उसे न खाते। अगर है तो उसमें भी तरावट घी की ही है, इसी लिए हमारे ऋषिगण घी, दूध, दही को तर मानते थे तथा हम लोग भी मानते हैं। हमारे सच्छास्त्रों के अनुसार मांस, मदिरा का सेवन करना राक्षसों तथा अनार्यों का काम है। यह बात आगे दिखलाई जावेगी। वैदिककाल में ऋषिलोग मांस नहीं खाते थे; तथापि उस समय भी मांसाहारी थे और वे ही अनार्य, दस्यु, राक्षस, असुर नाम से पुकारे जाते थे, परन्तु वेद मनुष्यमात्र को हिंसा से बचने का उपदेश देता है। ऋषिलोग स्वाभाविक अहिंसाप्रिय थे; क्योंकि बिना हिंसा छोड़े मनुष्य ऋषि नहीं बन सकता। उसे ईश्वर की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।

पृष्ठ ३, पंक्ति १४ से; पृ० ४ में १३वीं पंक्ति तक में लिखते हैं:—
"आजकल इस देश में बहुतेरे लोग विशेषतः उच्चश्रेणी के लोग आमिषभोजन को पाप मानते हैं, परन्तु बौद्धधर्म के पहिले मांसभक्षण पाप नहीं समझा जाता था। तब—"अहिंसा परमोधर्मः" यह बात भारतवर्ष में प्रचलित न हुई थी इत्यादि"।

अब इस की समीक्षा सुनिए—जिन्हों ने वेदों को पढ़ा है वे तो इस बात के क़ायल हैं ही, किन्तु अनपढ़ लोग भी यह भलीभांति जानते हैं कि "अहिंसा परमोधर्मः" यह वैदिकसिद्धान्तहैं, परन्तु मास्टर साहब को न तो संस्कृत का बोध है और न इस विषय को जानने के लिए विद्वानों की संगति की। फिर इस तरह ऊटपटांग लिखें न तो क्या करें? जब किसी मनुष्य को पीलिया की बीमारी हो जाती है तो वह समस्त वस्तुओं को पीली ही देखता है। चाहे वह लाल, काली, हरी क्यों न हों। ठीक यही दशा हमारे मास्टर साहब की है। आप को मांस खाते २ इतना अभ्यास हो गया है कि आप सब जगहों में हिंसा ही हिंसा देखते हैं। जब वेदों में एक नहीं सैंकड़ों स्थान पर लिखा है—

"यजमानस्य पशून् पाहि; अविं मा हिंसीः; गां मा हिंसीः; एकशफं मा हिंसीः"। इत्यादि २

अर्थात् यजमान के पशुओं की रक्षा करो, भेड़ मत मारो, गाय मत मारो, एकशफ पशुओं को मत मारो, तब मास्टर साहब किस आधार से कहते हैं कि "अहिंसा परमोधर्मः" इस सिद्धान्त को बुद्ध के पहले लोग नहीं जानते थे। जब वेद ही स्वयं अपनी पोज़ीशन आप ही साफ़ कर देता है तो आप का यह आक्षेप कि पहिले लोग हिंसा में पाप नहीं समझते थे कितना पक्षपातपूर्ण है। आर्य लोग बौद्धशिक्षा के बाद से नहीं, किन्तु सृष्टि के आदि से ही

हिंसा को पाप समझते थे क्योंकि उन्हें वेदोंकी शिक्षा थी कि किसी निरपराध प्राणी की हिंसा मत करो। हां, उस समय भी आप सरीखे मांसभक्षियों की कमी न थी। परन्तु वे लोग ऋषि नहीं, किन्तु अनार्य, राक्षस कहलाते थे।

यदि दुर्जनतोषन्याय से मान भी लेवें कि बुद्ध के बाद ही इस सिद्धान्त का प्रचार हुआ तो क्या यह बात मानने के योग्य नहीं? क्या कोई नई बात जो मनुष्य की हितकारी हो न मानना चाहिए? यदि ऐसा मानिएगा तो बाइबिल की शिक्षा का प्रचार करना आप सिद्ध न कर सकेंगे क्योंकि वह भी अभी १९१८ वर्ष की है।

आगे आप ने लिखा है कि बा० रमेशचन्द्रदत्त अपने बंगला अनुवाद में पं० रमानाथ सरस्वती का हवाला देकर ऋग्वेद के दश सूत्रों का (म० १ सू० १४२, १८८, म० २ सू० ३, सू० ४, म० ५ सू० ५, म० ७ सू० २, मं० ६ सूक्त ५, मं० १०, सूक्त ७०; ११०) पशु-यज्ञ में विनियोग बतलाते हैं॥

हम मास्टर साहब से पूछते हैं इन सूक्तों में आप हिंसार्थक एक शब्द ही दिखला दीजिए आपकी बात बस ठीक। जब मूल मन्त्रों में हिंसा विधायक एक शब्द भी नहीं तब पशुयज्ञ में इस का विनियोग कैसा? यहि हम विनियोग मान भी लेवें तो पशुयज्ञ में पशुओं को मारना चाहिए यह अर्थ कहां से लावेंगे? यदि कहो कि सब लोग ऐसा ही मानते हैं तो उत्तर यह है कि जब देश में पापी, तामसिक प्रकृति के लोग अधिक हो जाते हैं तो उनमें जो प्रचार हो जाता है प्रायः लोग संस्कारदोष से वैसा ही मानने लग जाते हैं। यदि आप या आपके पृष्ठपोषक पशुयज्ञ का अर्थ यज्ञ में पशु मारना करते हैं तो विवाहयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ पितृयज्ञ का क्या अर्थ करिएगा? क्या विवाहयज्ञ में वर को मारना, ब्रह्मयज्ञ में ब्राह्मण का मारना, देवयज्ञ में देवताओं का मारना तथा पितृयज्ञ में मा बाप को मारना अर्थ करिएगा? बात तो यों है कि आप ही सरीखे अनभिज्ञ

पशुयज्ञ का अर्थ यज्ञ में पशु मारना करते हैं, विद्वान् लोग नहीं।

यज्ञ का अर्थ मारना किस व्याकरण से करते हो? क्या कभी आपने इस पर विचार किया है? या यों ही ऊट पटांग अर्थ लिखदिए हैं? "यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु" यज्ञ का अर्थ विद्वानों का सत्कार मेलमिलापादि परस्पर व्यावहारिक क्रिया तथा दान देने के हैं।

पशवः इज्यन्ते दीयन्ते यस्मिन् स पशुयज्ञः

अर्थात् जिस कार्य में विद्वानों के पालनार्थ पशु दिए जाते हैं उसे पशुयज्ञ कहते हैं।

इस के अतिरिक्त आप कोई अन्यार्थ नहीं कर सकते। यदि कर सकते हैं तो कृपया दिखला दीजिए। वामियों के अर्थ के भरोसे कूदना, और पद पदार्थ पर विचार न करना विद्वानों का काम नहीं है।

जहां पर बाइबिल में बपतिस्मा देने का विधान है वहां पर उस का विनियोग क्या मुर्दा गाड़ने के समय कर सकते हैं? यदि नहीं तो यहां पर बेशिरपैर का विनियोग करने में आप को शंका क्यों न हुई? होवे कैसे? मन्त्रार्थ जानते होते तब तो न? आपने दूसरों के लिखे पर से ही ऊटपटांग लिख मारा है। जैसे गुरु वैसे चेला, गुरु ने तो भूल की ही थी; चेला जी ने भी लकीर के फकीर बनकर गुरु से बढ़कर भूल की। अस्तु, अब गोघ्न शब्द पर विचार कीजिए। यदि आप को व्याकरण का ज्ञान न था तो ऐसे जटिल विषय में हाथ ही क्यों डाला? खून लगाकर शहीद बनने की क्या आवश्यकता थी? "गोघ्न माने जिस के लिए गौ मारी जाय" भला यह अर्थ कहां से लाए? देखिए व्याकरण न जानने के कारण आपने कितनी भारी भूल की। अब सत्यार्थ सुनिए।

हन हिंसागत्योः—हन धातु के दो अर्थ होते हैं (१) मारना, (२) गति, जिस के अर्थ ज्ञान गमन प्राप्ति के हैं। "दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने" इस सूत्र से गोघ्न शब्द सम्प्रदानार्थ में सिद्ध होता है

न कि मारने के अर्थ में। इस लिए अर्थ यह हुआ कि जिस के लिए गौ दान की जाती हैं वह अतिथि गोघ्न कहलाता है ॥

गौः हन्यन्ते प्राप्यते दीयते यस्मै स गोघ्नः ॥

महात्मन्! जहां हमारे यहां यह लिखा है कि चुल्ही, जांता झाड़ू, इत्यादि कर्मों से गृहस्थ को पंचसूना दोष होता है, यद्यपि अनजान में होता है, वहां पर जानबूझ कर गाय बकरी मारने की गंध कहां? वेद के अतिरिक्त अन्य मानुषीय ग्रन्थों में आप ही समान मांस-भक्षण के पक्षपाती मनुष्यों ने श्लोक बना २ कर प्रक्षिप्त कर दिया है जिन पर स्पष्ट रीति से उचित स्थान पर लिखा जायगा। आगे मास्टर साहब एक मन्त्र देकर (ऋ० म० १ सूक्त ३१ ऋ० १५) अर्थ लिखते हैं कि "हे अग्ने उस नरकी जिसने दक्षिणा * दिई (दी), सीये हुए वर्म के समान सब ओर से रक्षा करता है। जो सुस्वादु खाद्य को अपने घर में रखता है, जिस से अतिथियों का सत्कार होता है जीववलियुक्त यज्ञ करता है वह स्वर्ग की उपमा होता है"। इस पर आप सायण की टिप्पणी चढ़ाते हैं कि सायण ने दो अर्थ किए अर्थात्

जीवयजनसहितं यज्ञम् अथवा जीवनिष्पाद्यंयजते

अर्थात् जीववलि युक्त यज्ञ और जिस यज्ञ से जीवन का पालन हो परन्तु वर्त्तमानकाल के अधिकांश विद्वान् सायण के प्रथमार्थ का समर्थन करते हैं" ॥

समीक्षा-भला जनाब मास्टर साहब से कोई पूछे कि साहब! कौन २ अधिकांश विद्वान् पहिले ही (जीववलियुक्तं) अर्थ को मानते हैं और दूसरे को नहीं मानते? इस में प्रमाण क्या? दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया कि जीवयजन सहितं का अर्थ आपही के अनु

* मास्टर साहब की हिन्दी का यह भी एक नमूना है ॥

जीवबलियुक्त है तो इस से क्या आपके पक्ष की पुष्टि हो गई ? क्या बलि शब्द से आप जीव का मारना लेतेहैं यदि ऐसा ही अर्थ मानते हैं तो प्रतिदिन के लिए पंचयज्ञ में जहां काकबलि श्वबलि लिखाहै वहां पर क्या काकबलि का अर्थ कौवे को मारना, श्वबलि का अर्थ कुत्ते को मारना करियेगा ? देखिए अमकोश "बलि पूजोपहारयोः" बलि का अर्थ सत्कार करना, भोजनादि उपहार देना है। फिर बलि का अर्थ मारना कैसे करियेगा ? जिस प्रकार काकादिकों को भोजनादि देना काकबलि कहलाता है उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवों को यथाशक्ति भोजन देने को जीवबलि कहते हैं। आप शास्त्रों की बात रूढ़ि पर ले आते हैं, परन्तु इसमें अर्थ का अनर्थ हो जाता है। आजकल बलि का अर्थ प्रायः कतिपय विचारशून्य लोग ऐसा ही समझ बैठे हैं जैसा आप ने समझा है; परन्तु शास्त्रों वेदों का यह उद्देश्य नहीं जैसा कि उदाहरण देकर आप को ऊपर समझा दिया है इस लिए सायण के दोनों अर्थ युक्तिसंगत हैं इस से जीवहिंसा सिद्ध नहीं होती। आगे पृष्ठ ७ में ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ६१ मन्त्र १२ देकर अर्थ में लिखते हैं-" हे इन्द्र तू जो शीघ्रकारी बहुत बलशाली सब का प्रभु है इस वृत्र को वज्र प्रहार कर तिरछे वज्र से गाय की तरह उस के जोड़ों को काट के टुकड़े २ कर कि बारिश इस से निकले और जल फैल जाय।" यह अर्थ लिखकर आप टिप्पणी चढ़ाते हैं कि (१) हमारे देशवासी हिन्दू-साधारण इन्द्रके हाथ से वृत्रासुर के हत्या किए जाने की कहानी तो मानते ही हैं (२) वैदिककाल में गोहत्या होने का प्रमाण भी मिलता है (३) उन दिनों में हिन्दुस्थान में न तो स्लंग मोहम्मदी और न गोखादक गोरे लोग ही वास करते थे सोगों के जोड़ों को अलग २ करते उन्हों ने कहां देखा ? निश्चय उन्हीं में से कोई २ आर्य कसाई का काम करते रहे होंगे। यदि ऋषियों के हृदय में गोहत्या पाप होता तो ऐसी पापसंसृष्ट उपमा क्यों देते॥

समीक्षा-जब आप को यही नहीं मालूम कि वेद में वृत्र शब्द का क्या अर्थ है तब वेद ऐसे गूढ़ विषय की समीक्षा करने को क्यों

तैयार हो गए ? क्या यह भी बाइबिल सरीखे कहानियों की पुस्तक हैं ? चाहिए था कि पहले निरुक्त निघण्टु व्याकरणादि वेदांग पढ़ लेते तब इस पर विचार करते । क्या वृत्रनामक कोई चेतन असुर था कि मारने से हत्या हुई ? अपने किए हुए अर्थ ही पर विचार किए होते तो मालूम हो जाता कि वृत्र नाम मेघ का है । परन्तु विचारें क्यों ? पक्षपात से तो अन्तःकरण पर परदा पड़ गया है । वेद के इन्द्र तथा वृत्र को लेकर पुराणों में रोचक कहानियां बनाई गई हैं जो केवल अलंकार मात्र है । जो लोग वेद नहीं जानते वे तो वृत्र की हत्या समझेंगे ही-परन्तु आप तो वेद पर समीक्षा करने चले हैं तब आप जानबूझ कर क्यों सरासर असंगत बात लिख रहे हैं ?।

(२) वेद में गोहत्या करने की विधि कहीं नहीं-मूर्खों को बहकाने के लिए आप ने लिख मारा। यदि कहीं विधि हो तो दिखलाइए-निषेध पर से विधि मान बैठना मूर्खता है ।

(३) यदि म्लेच्छादि नहीं थे तो क्या ? अनार्य तो थे न? ध्यान रखिए तामसिक राजसिक सात्विक प्रकृति के मनुष्य सब काल में रहते हैं वैसे ही आसुरिक प्रकृति के लोग तब भी वर्त्तमान थे । कोई आर्य कसाई न था किन्तु अनार्य थे-अब भी आप किसी आर्य को कसाई नहीं पावेंगे । पूर्व की बात तो जाने दीजिए, अब भी कसाई का काम अनार्य ही लोग करते हैं । ऋषिलोग गोहत्या तो दूर रही प्राणिमात्र की हिंसा को पाप समझते थे, वे सात्विक प्रकृति के मनुष्य थे । अहिंसाधर्म पालन किए बिना कोई ऋषि हो ही नहीं सकता। उपमा देने मात्र से आप ने उनका हृदय कैसे जान लिया ? हम लोग मांस नहीं खाते, परन्तु अनार्यों को काटते देखा है और बराबर देखते हैं तो यदि हम किसी से कहें कि भाई ! उस आदमी ने गङ्गाराम को तलवार से ऐसे काटा कि जैसे कसाई पशुओं को काटता है तो इस से क्या हमारा मांस खाना सिद्ध हो गया ? पाप जानने पर

भी समय पर उपमा दी जाती है। इतने मात्र से कोई पापी नहीं हो सकता।

पृष्ठ ९ में "गोनं" "जैसे मांस के काटने वाले लौकिक पुरुष पशुओंके अवयवको इधरउधर विभाग करते हैं" एवं सायण ने अर्थ किया है और आप गौ का अर्थ गाय करते हैं, परन्तु इतनेसे ऋषियों का गाय खाना सिद्ध नहीं होता, यदि गौ का अर्थ गाय ही मान लें। इस विषय में पहिले लिख चुके हैं कि उपमा देने से कोई पापी नहीं हो सकता। आप का तो यह पक्ष है कि ऋषिलोग मांस खाते थे और इसे तर माल समझते थे, इस में तो खाने पीने का कहीं नाम ही नहीं, केवल उपमा दी है, जिस का समाधान पूर्व ही में लिखा जा चुका है। "गौरिव पर्वाणि विरद" यदि निरुक्त के इस पद का वही अर्थ जो आप मानते हैं कि इस मेघ के पर्वों को गाय की तरह काट २ कर टुकड़े कर, मान लें तो इसमें आप के पक्ष की क्या पुष्टि है? परन्तु सत्यतः आप अर्थ करने में भूल कर रहे हैं। आप का यह लिखना कि गौ का अर्थ सिवाय गाय के और कुछ हो ही नहीं सकता, केवल प्रमादमात्र है। यदि निरुक्त का दर्शन किए होते तो ऐसी बेतुकी बात अभिमानवश न कहते। देखिए निरुक्त नैघण्टुकाण्ड अ० २, खं० ६:—

अथापि चर्म च श्लेष्मा च ॥ ६ ॥
अथापि स्नाव श्लेष्मा च ७। ५
उयापि गौरुच्यते गव्या चेत्तद्धितमथचेन्न गव्या गमयतीषूनिति।

अर्थात् चर्म, श्लेष्म, स्नाव, प्रत्यञ्चा, रश्मि इत्यादि अनेक अर्थ गौ के हैं।

इस लिए सत्यार्थ वैदिकार्थ यह हुआ कि "जिस प्रकार वीर लोग वैरियों की प्रत्यञ्चा के पर्वों को टुकड़े २ कर डालते हैं।"

आप जो बार २ बा० रमेशचन्द्र और रमानाथ सरस्वती का नाम लेते हैं, यह आप की भूल है। ये संस्कृतभाषा के पण्डित रहे होंगे, परन्तु वैदिकसंस्कृतभाषा में उन की पहुंच पूर्ण न थी। इसमें उन का भाष्य ही प्रमाण है। प्रत्येक अर्थ के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। दूसरे ये लोग मांसभक्षी थे, इस लिए मन्त्रों पर विचार नहीं किया और अपनी बुद्धि से अर्थ का अनर्थ कर डाला। वेद के अतिरिक्त अन्य मनुष्यकृत ग्रन्थों में वाममार्गियों ने प्रक्षेप करदिया है जो वेदविरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकता। आर्यों के लिए गोमांस ही क्या, सब ही मांस अखाद्य हैं और पूर्व काल में भी थे। बा० रमानाथ का यह लिखना कि पूर्वकाल में गोमांस अखाद्य न था, सरासर भूल है। उन्होंने वेदों का अनुशीलन नहीं किया था। महीधरादिभाष्योंके पाठसे उनको भ्रम होगया था। रमानाथ सरस्वती इस में कोई वेद का प्रमाण देते तो उनकी बात की पुष्टि होती। हां, यदि वे पूर्वकाल से वाममार्गियों का काल ग्रहण करते हों तो बात निराली है।

वेद हिंसा का विधान नहीं करता। गोमेध, अश्वमेध, अजामेध का अर्थ वैसा नहीं, जैसा आप या और लोग संस्कारदोष से समझतेहैं। तैत्तिरीयब्राह्मणसे लेकर इस विषय का उल्लेख यहां कर दिया जाता है और साथ ही सायणभाष्य भी दिया जाता है, जिससे आप को भलीभांति ज्ञात हो जायगा कि आप का अर्थ बिलकुल असंगत तथा अशुद्ध है। तैत्तिरीयब्राह्मण काण्ड ३, प्रपाठक ६, अनुवाक् ८ :-

(१) अश्वमालभते। प्राजापत्यो वा अश्वः। प्रजापतिमेवालभते। अथो श्रीर्वा एकशफं श्रियामेवावरुन्धे॥

सान्वयभाषार्थ-(अश्वः) आशुगमनशील एकशफवाला पशु (प्राजापत्यः) प्रजापति अर्थात् सूर्य

के गुण वाला (प्रजापतिं) प्रजा के स्वामी को (आलभते) प्राप्त हो। (अथो) [प्रश्न] यह क्यों? [उत्तर]-(एकशफम्) एक खुर वाला पशु अर्थात् अश्व, अश्वतर, खर इत्यादि ये सब (श्रीः) लक्ष्मी के (वा) तुल्य हैं। जो राजा इस एकशफ जाति के पशुओं का यथाविधि पालनपोषण तथा तत्कर्म शिक्षण करता कराता है वह (श्रियम्) अनेक सुखसम्पत्ति को (एव) ही अपने पास (अवरुन्धे) संग्रह करता है।

सायण भाष्यकार भी हमारे ही अर्थ की पुष्टि करते हैं। यथा-

प्रजा प्रत्यक्षजन्यत्वात् (अश्वः) प्राजापत्यः तदालम्भेन प्रजापतिमेवालब्धवान् भवति। अपि च एकशफम् अश्वाश्वतरगर्दभरूपं श्रीः स्वरूपं धनिकानां गृहेषु मनुष्यधनादिवहनाद्याश्वादीनांदर्शनात् तस्मात् श्रियमेवप्राप्नोति

अब अश्वमेधविधि के पश्चात् उक्त तैत्तिरीयब्राह्मणके उक्त पते पर ही गोमेधविधि देखोः-

गामालभते। यज्ञो वै गौः। यज्ञमेवालभते। अथो अन्नं वै गौः। अन्नमेवावरुन्धे॥

सान्वयभाषार्थ-यजमान (गाम्) गोजाति को (आलभते) मर्यादापूर्वक संग्रह करे क्योंकि (गौः,

वै) गोजाति ही (यज्ञः) यज्ञ का कारण है अर्थात् जहां जिस यजमान के गोधन है वहीं यज्ञ, जहां गौ नहीं वहां यज्ञ नहीं। इस से वह (एव) ही गौओं का धनी यजमान (यज्ञम्) उक्त यजनार्थ को (आलभते) विधिपूर्वक पहुंचाता है। (अथो) इस के अनन्तर (गौः) गोजाति (वै) ही गोरस इत्यादि की लब्धि का कारण होने से (अन्नम्) प्राणधारक अर्थात् जीवन है इससे जो गोजाति मात्र का पालन पोषण करता है वह (अन्नम्) जीवन को (अवरुन्धे) संग्रह करता है।

सायण—द्वे धेनू भौमी इत्यादौ पशुत्वेन गौर्विहिता सा च यज्ञनिष्पादकत्वात्—यज्ञस्वरूपा-अतोगवालम्भेन यज्ञ एवालब्धो भवति। अपि चक्षीरादिद्वारेण गोरन्नत्वात्-अन्नमेव प्राप्नोति।

(३) अजावी आलभते भूम्ने। अथो पुष्टिर्वै भूमापापुष्टिमेवावरुन्धे।

सान्वयभाषार्थः—(अजावी) बकरा और मेष इन दो जाति के पशुओं को (भूम्ने) जिसके अधिकार में भूमि अधिक हो उस भूमिया के लिये यजनशील राजा (आलभते) मर्यादापूर्वक देवे (अथो) यह प्रश्नार्थ है—अब प्रश्न उत्पन्न होता है उक्त पशुविशेष

अधिक भूमि वाले को क्यों देवे ? उत्तर—(भूमा) अधिक पृथिवी वाला (वै) ही मनुष्य उक्त पशुओं का भूमि के कारण तृणादि अधिक मिलते रहने से (पुष्टिः) पोषक है जो उक्त पशुओं को पालता है वह (एव) ही अपनी और दूसरों की शारीरिक मानसिक और सामाजिक (पुष्टिम्) पुष्टि को (अव-रुन्धे) संग्रह करता है ॥

यहां पर 'आलम्भ' शब्द पर आपको शङ्का होगी। कारण आज कल वाममार्गियों के अर्थ पर से अविद्वान् लोग आलम्भ का अर्थ मारना करते हैं जो सर्वथा वेद व्याकरण विरुद्ध है।

निघण्टु में हिंसार्थक ३३ धातु यास्क मुनिने गिनाई हैं देखो नि० अ० २ खं० १६। इन में आलम्भ धातु नहीं है। फिर भला आल-भते का हिंसार्थ कहां से आकूदा ? आ उपसर्ग पूर्वक लभ धातु का अर्थ हिंसा करना किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकता। देखिए पार-स्करगृह्यसूत्र उपनयन प्रकरण "अथास्य दक्षिणांसमधिहृदयमालभे" तथा विवाह प्रकरण में—

"दक्षिणांसमधिहृदयमालभते"

तथा चरक शारीरिक अध्याय ७—

एताभिश्चैव पुष्येपुष्ये स्नानं सदाचताःसमालभेत

तथा सुश्रुत कल्पस्थान अ० २-

आलभेदसकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् ॥

तथा मीमांसा दर्शन अ० २ पा० ३ सूत्र १७ पर सुबोधिनी टीकाकार ने भी आलम्भ का अर्थ संस्पर्श किया है ॥

"वत्सस्य समीपे आनयनार्थं आलम्भः स्पर्शोभवति

इन स्थानों पर भी हिंसार्थक होना चाहिए था सो नहीं हुआ। ऐसे अनेक उदाहरण स्पष्ट हैं जिन्हें विद्वज्जन विचार कर लेवें। विस्तार करने की आवश्यकता नहीं ॥

महोक्ष-महाज शब्द पर विचार ।

आप को तथा रमानाथ सरस्वती को महोक्ष तथा महाज का वैदिक अर्थ ज्ञात न था। नहीं तो इस प्रकार का अनर्थ न करते। वैदिक शब्दों का भाषा में प्रयोग होने से लोग पदे पदे भूल करते हैं। भाषा में वृषभ का अर्थ बैल, अजाका अर्थ बकरी है इसके सिवाय इस के अन्यार्थ नहीं जानते। इस लिए इस को सप्रमाण यहां पर दिखलाना अत्यावश्यक है।

(१) चरुर्वै देवानामन्नम् ओदनोहि चरुः
ओदनोहि प्रत्यक्षमन्नं तस्माच्चरुर्भवति ॥

अर्थात् अन्न ही देवताओं का चरु अर्थात् भक्षणीय पदार्थ है ॥

(२) देवताओं की प्रसन्नता सुगन्ध से हुआ करती है इसी लिए सुगन्धयुक्त, रोगनाशक, पुष्टिवर्धक पदार्थों से अग्नि में हवन करने का विधान है। जब अग्नि में मांस जलाने से चारों ओर इतनी दुर्गन्धि छा जाती है कि देवता तो क्या, मांसाहारी मनुष्य भी उससे घृणा करके नाक बन्द कर लेते हैं तब उनकी प्रसन्नता के लिए अग्नि में मांस काटकर हवन करना चाहिए-ऐसा अर्थ करना कितनी भारी भूल है ॥

३-महाभारत शान्तिपर्वः—

यैर्यज्ञेषु यष्टव्यमितिवैवैदिकी श्रुतिः।
अज संज्ञानि वीजानि छागंनोहन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै बध्यते पशुः।

अर्थ-यह वेद की आज्ञा है कि यज्ञ में वीजादि द्रव्यों से यजन करना चाहिए। अज नामक वीज होता है। बकरा इत्यादि नहीं मारना चाहिए। हे देवलोग! पशुओं का मारना सज्जनों का काम नहीं है।

(४) अजा के लक्षण सुश्रुत चि० अ० ३०—

अजास्तनाभकन्दास्तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी।
अजा महौषधिज्ञेया शङ्खकुन्देन्दु पाण्डुरा॥

अर्थ-दूध भरे हुए बकरी के थन के समान अजा नाम की महौषधि होती है क्षुपसंज्ञक उद्भिदों में उसकी गणना है शङ्ख कुन्द चन्द्रमा के समान वह सुफेद वर्ण की होती है।

पुनः चरक चि० अ० १

अजानामौषधिः रजशृङ्गीति विज्ञायते।

जिस का नाम अजा है वह रजशृङ्गी कही जाती है। इसी प्रकरण ऋषभ, अश्व नामक महौषधि होती है जो हवन में डाली जाती है तथा अनेक दवाइयों में पड़ती है। हवन में डालने से उस के गन्ध से बीमारी के Germs कीड़े नष्ट होते हैं॥

अथर्ववेद कां० १९ अ० ५ सू० ३६ में लिखा है॥

हिरण्यशृङ्गं ऋषभः शातवारो अयंमणिः।
दुर्णाम्नः सर्वा तृढ्वाष रक्षांस्यक्रमीत॥

इस मन्त्र में ऋषभ तथा शतावरी नाम महौषधियों का ज्ञान है। च्यवनप्रास में यही ऋषभ महौषधि डाली जाती है। जब से धाममार्गी ऋषभ का अर्थ बैल करने लगे तब से इस की पहिचान भी जाती रही। अब च्यवनप्रास में इस का अभाव ही रहता है अधिक जानने के लिए अथर्व वेद काण्ड ४ अ० १ सूक्त ४ तथा इसके आगे के सूक्त देखो। कुछ शब्दों की सूची नीचे देते हैं।

अश्व=अवगन्धा। ऋषभ=ऋषभक कन्द। श्वान=कुकुरमुत्ता। वराह=वराहीकन्द। काक=काकमाची। अज=अजमोद। मत्स्य=मत्स्याक्षी। लोम=जटामासी। महिष=महिषाक्ष गुग्गुल। मेष=चकवड़, मेषपर्णी। मातुल=धतूरा। मृग=सहदेवी बूटी। पशु=मोथा। कुमारी=घिवकुवार। रुधिर=केशर। पेशी=जटामांसी। हरिद्र=दारचीनी।

इसी प्रकार सम्पूर्ण ओषधियों के नाम हैं जैसे भीम कहने से भीमसेन का ग्रहण होता है इसी प्रकार यहां भी काक से काकमाची ली जावेगी। जितने नाम ऋषभ के होंगे उतने ही नाम उन महौषधियों के होंगे जितने नाम अश्व के होंगे उतने ही नाम अश्वगन्धा के होंगे।

संसार के उपकार के लिए यज्ञ में सम्पूर्ण जड़ी बूटियों के हविष का विधान है। एक बूटी जिस का नाम सर्पिणी है, जितने रंग के सर्प होते हैं उतने ही प्रकार की यह बूटी होती है। यदि सर्प यज्ञ का कहीं पर विधान आवे तो यही बूटी लेनी चाहिए। यही बूटी शिमले में विषनाशक औषध प्रसिद्ध है। यह मेरी निज-की कल्पना नहीं वेद में स्वयं "धाना धेनुरभवत्" लिख कर इस क्लिष्ट विषय को स्पष्ट कर दिया है कि वेद में यज्ञस्थलों पर धेनु का अर्थ धान है। लिखने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ स्थल में ऋषभ, अश्व, अजा शब्द से उन उन नामों की महौषधियां ली जाती हैं, न कि बैल घोड़ा बकरी इत्यादि।

मांस शब्द पर विचार।

रस से लेकर शुक्र पर्यन्त सब धातु केवल जंगमों ही में नहीं होते किन्तु उद्भिजों में भी होते हैं वही मांस, रुधिर, वपा, अस्थि इत्यादि शब्द वेद में आ जाने से लोग शंकाग्रस्त हो कर अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं-इस में प्रमाण चरक चि० अ० १०—

कृष्णमृन्मधुकं शंखं रुधिरं तण्डुलीयकम्।
पीतमेकत्र सक्षौद्रं रक्तसंग्रहणं परम्॥

काली मिट्टी, मुलहटी, शङ्ख और चौलाई का रुधिर अर्थात् रस मधु के साथ पीने से अत्यन्त रससंग्रहण होता है।

खर्जूरमांसान्यथतारिकेल ... कोलास्थि-
मज्जाऽऽम्रमक्षिकाविट्।

इस में खजूर के गूदे का नाम मांस, बेर की गुठली का नाम अस्थि, रस का नाम मज्जा है।

पुराणमांसं संक्लिन्नं कृमिव्यालहिमातपैः।
अदेशकालजं विलिन्नं यत्स्यात्फलमसाधु तत्
चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः
पृथग्दृश्यन्ते।

आम के फल पक जाने पर केशर, मांस (गूदा) अस्थि (गुठली) मज्जा (रस) अलग २ दिखाई देते हैं।

अथर्ववेदकाण्ड ४, अनु० ३, सू० १२, मं० ४। ५-

मज्जा मज्ज्ञा सन्धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु॥
लोम लोम्ना सङ्कल्पया त्वचा सङ्कल्पया त्वचम्।
असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सन्धेह्योषधे॥ ५॥

अर्थ-हे रोहिणि! कटे हुए अस्थिको अंकुरित करने वाले भेषज छिन्न हुए की (मज्जा) मज्जा (ते) तेरी (मज्ज्ञा) मज्जा से (सन्धीयताम्) सन्धित होवे और (चर्मणा) चाम से (चर्म) कटा चाम (रोहतु) पुर जावे (ते) तेरा (असृक्) रक्त (अस्थि) हड्डी को (रोहतु) पूरा करे और (मांसम्) मांस (मांसेन) मांस से (रोहतु) भरवावे।

उक्त अनेक वेद शास्त्रों के प्रमाणों से दिखला दिया गया कि मांस, मज्जा, वपा, अस्थि इत्यादि जङ्गमों में ही नहीं होती किन्तु स्थावर वनस्पतियों में भी होती है। अब मैं आप के दिए हुए मन्त्रों का यथार्थ अर्थ करे देता हूं जिस से कि आप की शङ्का मिट जावे।

(१) यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति। सुप्राङजो मेयद्विश्वरूप, इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः।

अन्वयार्थ-(सुप्राङ्) सुष्ठु पृच्छतीति उच्चारतीति मन्त्रं सः-मन्त्रों को भलीभांति उच्चारण करने वाला ऋत्विक् (मुखतः) मुख करके (निर्णिजा-

निर्णिगितिरूपनाम) शुद्ध (रेक्णासा–रेक्णा इति धन नाम) गूदारूप धन से युक्त (प्रावृतस्य–प्र+आङ् +वृङ् संभक्तौ+क्त–अत्र विभक्तिव्यत्ययः—प्रकृष्टेन मर्यादापूर्वकं संभक्तम्) भली भांति विधि के अनुसार काट छांट कर शुद्ध किये हुये (गृभीतां) ग्रहण किये अश्वगन्धा को (रातिं) अग्नि में हवन करने के लिये (नयन्ति) यज्ञ में ले जावें अपि च (विश्वरूपः) अनेक प्रकार की (मेम्यत्) काटी छांटी हुई (अजः) अजानामक महौषधि ले आवें (यत्एतद्द्वयं वस्तुजातमस्ति) ये दोनों पदार्थ (इन्द्रापूष्णोः) सूर्य और अग्नि के (प्रियं) प्रियकर (पाथः) अन्न (एतु) प्राप्त होवे ।

(२) एषः छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः । अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति ॥

अन्वयार्थ–(एषः छागः) यह अजा नामक महौषधि (विश्वदेव्यः) सम्पूर्ण देवताओं के योग्य (पूष्णोः) अग्नि का (भागः) भाग (वाजिना) पुष्टिकारक (अश्वेन) अश्वगन्धा के साथ (पुरः) अग्नि में देनेके लिये वेदी के सामने (नीयते) ऋत्विक् लोग ले जावें (यत्) जो (अर्वता) अश्वपर्णी के साथ (प्रियं) प्रियकर (पुरोडाशम्) परिपक्व हविष है उसको (त्व-

ष्टा) अग्नि (सौश्रवसाय) देवताओं के शोभन अन्न निमित्त (अभिजिन्वति) प्राप्त कराता है ।

(३) यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति । यद् हस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वातास्ते अपि देवेष्वस्तु ।

अर्थ—(अश्वस्य) अश्वपर्णी के (क्रविषः) गूदे को (यत्) जो (मक्षिका-आश) मक्खियां खारही हों (वा) अथवा (यत्) जो (स्वरौ-स्वधितौ) छुरहाड़ी आदि पर (रिप्तं अस्ति) लगा हो (यत्) जो (शमितुः) पकाने वाले या काटने वाले के (हस्तयोः) दोनों हाथों में है (ताः सर्वाः) वे सम्पूर्ण औषधियां (देवेषु अस्तु) देवताओं के निमित्त हैं--

अर्थात् उनका कुछ भाग भी व्यर्थ न जावे-सब का सब अग्नि में हवन कर देना चाहिए। यहां ताः सर्वाः ये स्त्रीलिङ्ग पद स्पष्टरीति से बतलाते हैं कि ये महौषधियां हैं—

(४) अर्थ आप के दिये चतुर्थ मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है कि—

(यत्) जो (उदरस्य) अश्वगन्धी के मध्यभाग से (उवध्यम्) अधपकाभाग (अपवाति) बाहर निकलता है (यः) जो (आमस्य क्रविषः) कच्चा गूदाहै उसका (गन्धं अस्ति) लेशमात्र भी है (तत्) उसको बनानेवाले (सुकृता कृण्वन्तु) निर्दोष

कर लेवें अर्थात् जो ख़राब भाग हो उसको निकाल कर बाहर कर देवें और जो (मेधं) पवित्र शुद्ध है उसको (शृतपाकं पचन्तु) देवताओं के देने योग्य जिस प्रकार अच्छा बन सके—हविष पकावें ॥

भावार्थ—हविः तैयार करने के समय अश्वगन्धा के भीतर का सड़ागला भाग, तथा जो हविष् में न डालने योग्य बिलकुल कच्चा भाग है उसे निकाल कर फेंक देवें। जो शेष अच्छा भाग बचे उसका हविः तैयार करके देवताओं के निमित्त अग्नि में प्रक्षेप करे।

(५) ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति। ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतोतेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥

अर्थ—(ये) जो (वाजिनम्) अश्वपर्णी को (पक्वं) पकते हुये (परिपश्यन्ति) चारों ओर से देखते हैं (ये) जो (ईम्--आहुः) यह कहते हैं कि (सुरभिः निर्हर इति) इस से सुगन्ध निकल रही है (ये) जो (अर्वतः)अश्वपर्णी के (मांसभिक्षां—उपासत) गूदे को चाहते हैं और इसी लिये वहां पर बैठे हैं (उत) अपि च (तेषां) उनका अभिगूर्त्ति (नः इन्वतु) हम लोगों को प्राप्त हो—

भावार्थ—यज्ञ के अन्त में हुतशिष्ट भाग ऋत्विगादि लोग भक्षण करते हैं-इस मन्त्र में बतलाया गया है कि जितने लोग वहां पर बैठे हों सब लोगों को हुतशिष्ट देना चाहिए-क्योंकि उस में सभों ने उद्यम किया है।

मन्त्र ४ में उदर शब्द पड़ा है जिस का अर्थ भाषा में पेट होता है-हमारे पाठक भी इस में अवश्य शंका करेंगे कि भला अश्व का अर्थ तो आपने अश्वपर्णी किया, उस में पेट कहां से आगया ?

समाधान-अवयवकल्पना सब में होती है-देखो स्थावरों को पादप कहना प्रसिद्ध है इस से स्थावरों में पाद होना माना जाता है जब पाद हुआ तो उदर शिर इत्यादि होना ही चाहिए "प्राग्रन्तु शिखरं शिरः" जङ्गमों के स्कन्ध जिस को भाषा में कन्धा कहते हैं स्थावरों के भी जो भाषा में गुद्दे हैं, संस्कृत में वे भी स्कन्ध ही कहलाते हैं। उदर मध्यभाग का नाम है जङ्गमों की टांग और भुजाओं को शाखा कहते हैं। देखो सुश्रुत शा० अ० ५ में:—

तत्र शाखा चतस्रो मध्यमं पञ्चमं षष्ठं शिरः इति।

ये अङ्ग ६ हैं चार शाखा (दो टांग दो भुजा) पांचवा मध्य अर्थात् उदर छटवां शिर॥

अश्व शब्द पर और अधिक विचार।

असृक्षत प्रवाजिनो गव्या सोमासो
अश्वया शुक्रासो वीरया ऽऽ शवः॥

सामछन्द आर्चि० अ० ५, द० २, मं० ६

सान्वय भाषार्थ- (गव्या) ऋषभ महौषधि के (अश्वया) अश्वगन्धा नामक रसायन भेषज के और (वीरया) बड़ी सतावर के साथ (सोमासः) सोम महौषधियां (शुक्रासः) वीर्यवर्धक (प्रवाजिनः)

विशेष बलवाली (आशवः) फुर्तीली अर्थात् शरीर में स्फूर्त्ति पैदा करने वाली (अमृक्षत) बनाई जाती हैं। यह सोम महौषधि रसायन प्रकरण की है। इस लिये जो भषज रसायन होगा उन से इस सोम महौषधि में गुणों की अधिकता अवश्य हो जाती है। ऋषभ, अश्वगन्धा और शतावर ये सब शुक्रल और रसायन हैं।

अश्वगन्धा हयाह्वया। भावप्रकाश। तुरगी वनजा वाजिनी हयी॥ राजनि०॥ अश्वगन्धा निलश्लेष्म श्वित्र शोथ क्षयापहा। वल्या रसायनी तिक्ता कषायोष्णाति शुक्रला॥ भा० प्र०॥ महाशतावरी क्षीरा तुङ्गिनी बहुपुत्रिका। महतीकफवातघ्नी तिक्ता श्रेष्ठा रसायने॥ राजनि०॥

अश्वगन्धा का क्षुप होता है। फल पनसीखा के समान गोल होते हैं इसके नीचे छोटी मूली के समान कन्द होता है इसके पत्रादि सब रोगनाशक होते हैं।

अश्वगन्धापत्र लेपो ग्रन्थिगण्डापचीन्हरेत्॥

ऊपर श्लोकों में आप देखते हैं कि अश्वगन्धा अश्वनाम वाली होती है। जितने अश्वनाम उतने ही इस के नाम दिखलाए गए हैं। अब वेद ही से देखिए कि अश्व नाम महौषधि का है:—

अश्वावतीं सोमावती मूर्जयन्तीमुदोजसम्।

आविर्त्सि सर्वा औषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥

य०अ० १२ मं० ८१

सान्वयभाषार्थः—(अस्मै) इस यजमान के (अरिष्टतातये) दुःख दूर होने के लिये (अश्वावतीम्) अश्व गन्ध जिस में पड़ा हो (सोमावतीं) सोम जिस में पड़ा हो उन (सर्वाः) सब (ओषधीः) भेषजों को (ओजसम्) शुक्रपर्यन्त सब धातुओं के तेज को (उत) अतिशय (ऊर्जयन्तीम्) बढ़ाने वालियों को (आ) सर्वथा अर्थात् रूप से गुण से और उन के योग से हे मनुष्य (आविर्त्सि) तू पहचान।

अब ऊपरके अनेक प्रमाणों से मालूम हो गया कि अश्व नाम अश्वगन्धा का है। मेरा यह कहना नहीं कि सर्वत्र अश्व का अर्थ अश्वगन्धा है, परन्तु हवन का वर्णन आने पर अश्वगन्धा ही ली जावेगी, न कि घोड़ा।

ऋषभ, वृषभ शब्द पर विचार

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः।
दुर्णाम्न सर्वा तृढ्वावरक्षांस्यवाक्रमीत् ॥

सान्वय भाषार्थ—(शातवारः) शतवार भेषज का (मणिः) मणि (हिरण्यशृङ्गः) सुवर्ण के समान चमकते हुए शृङ्ग [अग्रभाग] वाला (ऋषभः) ऋषभ

महौषधि है (अयम्) यह (सर्वान् दुर्णाम्नः) सब घिनौने नाम के त्वग्दूषक रोगों को (तृंहवा) हिंसा करके (रक्षांसि) राक्षसों को (अवाक्रमीत्) दबाता है ३ ॥

ऋषभो वृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि ॥ भा०

यह हिमाद्रि शिखर पर मिलती है। बैल की सींग के समान आकार होता है-पत्ते छोटे २ होते हैं। यह शीतल रखने वाली बल-वर्धक औषधि है और शरीर में वीर्य को बढ़ाती है। चखने में मीठी, क्षयवातादि रोगों का नाश करती है।

अथर्ववेद मण्डल ३—

यानि भद्राणि वीजान्यृषभा जनयन्ति च
तै स्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसू धेनुका भव ॥

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि हवनादि कार्यों में ऋषभ नामक महौषधि ली जाती है न कि बैल इत्यादि। इस पर और कुछ आगे (अथ च इच्छेत्०) इस उपनिषद् के वाक्य पर लिखाजायगा, वहां देख लीजिए।

मास्टर साहब के किये हुए अर्थों की समीक्षा

(१) अश्व को इस समय भी, जबकि मांसाहारियों की संख्या अधिक है कोई नहीं खाता। इस का मांस सर्वत्र अखाद्य माना जाता है, तब भला ऋषि लोग जो स्वभाव ही से अहिंसाप्रिय होते थे किस प्रकार अश्वमांस खा सकते थे?

(२) मांस को अग्नि में डालने पर उस से सुगन्धि कालत्रय में भी नहीं निकल सकती-हां बदबू तो अवश्य निकलेगी। फिर

ऐसा लिखना कि इस में से सुगन्धि निकलती है कितनी भारी मूर्खता है।

(३) यदि पूर्व काल में जो पुण्यकाल माना जाता है,- गौ बैल भैंस इत्यादि ऋषि लोग मार कर खा जाते थे तो इस समय लोग क्यों नहीं खाते ? बकरा तो खाते ही हैं फिर इनमें कौनसा दोष. आ गया जब कि आप के मत से वेद विधान करता है। यदि पहिले पाप नहीं था तो अब कहां से घुस पड़ा ?

मीमांसादर्शन बतलाता है " अपि वा दानमात्रं स्यात् भक्ष शब्दानभिसम्बन्धात् " अर्थात् भक्ष शब्द वहां न पड़ने पर केवल पशुओं के दान का विधान है न कि मारने का-

इस लिए हिंसापरक अर्थ करना शास्त्रविरुद्ध है। आप जो यह लिखते हैं कि अश्व का अर्थ घोड़े सिवा अन्य नहीं हो सकता, सो यह आप की सरासर भूल है-इस विषय में पीछे बहुत लिखा जा चुका है उसे वहां देख लीजिए।

वेदों में अश्व के अनेक अर्थ होते हैं कहीं घोड़ा, कहीं ओषधि कहीं शीघ्रगामी पदार्थ-प्रकरणानुकूल अर्थ करना विद्वानों का काम है। आप सरीखे विद्वानों को इस विषय में हाथ डालना अनुचित था हां, बाइबिल पर कोई पुस्तक लिखते तो शायद अच्छी लिख सकते॥

आगे आप ऋग्वेद मं० १ सूक्त १६४ ऋ० ४३ लिखकर उक्षाण का अर्थ बैल करके उस का पकाना लिखते हैं

समीक्षा—आप सायण ही का अर्थ देखलेते तो आप को यह भ्रम न होता परन्तु आप को तो हठ है कि हम मांस खाना वेद से सिद्ध करेंगे फिर क्यों सत्य का ग्रहण करिएगा ? यहां पर आप के गुरु अक्षयकुमार दत्त मिल गए धन्य हैं आप !

देखिए ऋषभ नामक महौषधि के ये नाम हैं—

ऋषभ, दुर्धर, द्राक्ष, मातृक, वल्लुर, नृप, ऋषभक वृषभ, वृष वीर, पृथिवीपति, गोपति, धीर, वीर्याणी, ककुद्मान्, पुंगव, घोढ़ी, शृंगी, धुर्य्य, भूपति, कामी, रूक्षप्रिय, लक्षा लांगली, गोवन्धुर, बन्धूर, गोरक्ष. बनवासी, ऋषिप्रिय, मधुर, शीतल, कामद। यह बैल के सींग के आकार का होता है। कन्द लहसन के कन्द के समान होता है (देखो भा० प्र०)

पाठक लोग ध्यान दें। ऋषि प्रिय भी इस का नाम है जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऋषि लोग इसे ही हवन में डालते थे तथा पकाकर खाते थे क्यों कि यह खाने में मीठा होता है। इसी में उक्षा शब्द भी पड़ा है यहां पर इस मन्त्र में उक्षा का अर्थ ऋषिप्रिय ऋषभक का नाम है–बैल का नहीं–

उक्षाणं अपचन्त का अर्थ यही करना होगा कि खाने के लिए ऋषभक पकाते हैं।

ऋग्वेद मं० २ सूक्त ७ ऋ० ५—

त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभिः। अष्टापदीभिराहुतः॥

इस उक्त मन्त्र में अष्टापदी का अर्थ गाभिन गाय करते हैं– वह इस तरह से कि ४ टांगे गाय की तथा ४ बछे की। समीक्षा– भला इस अर्थ का भी कहीं ठिकाना है। इस तरह स्त्री को भी चतुष्पदी क्यों न कहें–कोष बनाने वालों को चाहिए कि स्त्रियों को अब से चतुष्पदी का अर्थ गर्भिणी स्त्री किया करें। इस मन्त्र में

वशाभिः, उक्षाभिः, अष्टपदीभिः

ये तीन पद आए हैं ये ही शब्द मास्टर साहब को भ्रम में डाले हुए हैं। उक्षा का अर्थ सयौक्तिक सप्रमाण दिखला दिया है।

वशा यह मेदा महौषधि का नाम है देखिए

मेदा, धीरा, मणिच्छिद्रा, मधुरा, जीवनी, रसा, मेदोद्भवा श्रेष्ठा, विभावरी, वशा, शल्यपर्णिका, मेदसारा, स्नेहवती, मेदिनी, स्निग्धा, द्रवा, साध्वी, शल्यदा, बहुरन्ध्रिका मेदोवती, पुरुषदन्तिका, पल्यपर्णी, छिद्रबहुला, भव्या, जीवनिका, अध्वरा, स्वल्पपर्णी तथा इसके गुण

मेदा तु मधुरा शीता पित्तदाहार्तिकासनुत्।
राजयक्ष्माज्वरहरा वातदोषकरी च सा॥

निघण्टुचूड़ामणि॥

यह रोग नाशक होने के कारण हवन सामग्री में डाली जाती हैं।

लक्षण—

शुष्ककन्दनखच्छेद्यो मेधातुरिवस्रवेत्।
यः समेदेति विज्ञेयो जिज्ञासा तत्परैः जनैः॥

जिस का कन्द सफेद होता है, जिस में नख गड़ाने से मेदा-धातु के समान एक प्रकार का रस टपकता है, उसी का नाम मेदा अर्थात् वशा महौषधि है।

अष्टपदी-धतूरे का नाम है (देखिए वैद्यक निघण्टु)।

प्रश्न-वाह साहब! धतूरे को आग में डालने से क्या लाभ? आप ही तो अर्थ उलटते हैं। दूसरे के नाम पर दोष मढ़ते हैं।

उत्तर-पहले बतला दिया है कि हवन में रोगनाशक औषधियां पड़ती हैं यथाः—

सुरभीणि सुपुष्टेश्च कारकाणि सितादिकम्।
द्रव्याण्यादाय जुहुयाच्चतुर्थं रोगनाशकम्॥

अर्थात् हवन में सुगन्धित, पुष्टिकारक, रोगनाशक द्रव्य डालना चाहिए। अब धतूरे का गुणसुन लीजिएः—

धतूरो मदवर्णाग्निवातकृज्ज्वरकुष्ठनुत्।
कषायो मधुरस्तिक्तो यूकालिक्षाविनाशनः॥
उष्णो गुरुर्व्रणश्लेष्मकण्डूकृमिविषापहः।

धतूरा मदकारक, अग्निवातकारक, ज्वर को नाश करनेवाला, कोढ़ नाश करने वाला, कषैला, मीठा, कड़ुवा जुओं और लीखों को दूर करने वाला, व्रण कफ, कण्डू, कृमि तथा विषनाशक है।

बस इसी कारण से हवनद्रव्य में पड़ता है। अब मन्त्रार्थ सुनिए।

हे (भारत!) सबको पालने वाला अग्नि तू हमारे लाभ के लिए है, इसलिए ऋषभक, वशा, अष्टपदी नामक महौषधियों से तू आहुत किया गया-अर्थात् उपरोक्त महौषधियां तुझ में हवन करते हैं जिस से कि हम लोगों का बल बढ़े, रोग नाश हों। परमात्मा का उपदेश है कि उक्त महौषधियां अग्नि में डाल कर अपना तथा अन्यों का उपकार किया करो।

ऋ० मं० ६, सू० १६, अ० ४७—

(१) आते अग्न ऋचा हविर्हृदा तष्टं भरामसि।
ते ते भवन्तूक्षणऋषभासो वशा उत॥

(२) यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशामेषा अवसृष्टास आहुताः। कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदामतिं जनये चारुमग्नये॥

ऋ० म० १० सूक्त ९१ ऋचा १४॥

उक्त दोनों ऋचाओं को देकर मांसभक्षण सिद्ध करना चाहा है परन्तु इन ऋचाओं में भी न तो कोई हिंसार्थक धातु ही है और न भक्ष

शब्द का कहीं सम्बन्ध ही है। फिर न मालूम कि मास्टर साहब ने किस आधार से मनमाना अर्थ किया है।

हां अश्व, ऋषभ, उक्षा, वशा, मेषा शब्द आगए हैं शायद इन्हीं शब्दों से मास्टर साहब भ्रम में पड़ गए। परन्तु यहां पर अग्नि में द्रव्य डालने का विधान है और जहां पर हवन का वर्णन होगा वहां पर उन नामों की ओषधियां ली जावेंगी न कि घोड़ा बैल। उक्षा, ऋषभ, अश्व, वशा का विवरण सविस्तर सप्रमाण पीछे कर दिया है। वहां ही देख लीजिए। मेष का यहां पर विचार किया जाता है॥

मेष नाम मेषपर्णी का है भेड़ का नहीं, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण कां० १२ अ० ४ क० ४ में लिखा है कि:—

त्रयोह पशवो अमेध्याः—दुर्वराहः षड्कः, श्वा तेषां यद्यधिश्रिते ऽग्निहोत्रे ऽन्तरेणकश्चित्संचरेत्। किंतत्र कर्म, का प्रायश्चित्तिः॥

बराह, मेष, कुत्ता ये अपवित्र पशु हैं, यदि इन में से कोई अग्निहोत्र की वेदि के पास बैठे या होता या यजमान के बीच में होकर निकल जाय तो कौन सी प्रायश्चित्ति करनी चाहिए जिस से यज्ञ निर्दोष रहे? आप देखते हैं कि जब मेष यज्ञस्थल में आने ही से प्रयाश्चित्त करना पड़ता है, यज्ञ अपवित्र हो जाता है तब भला यज्ञ में मेष का बध करना कैसा? इस लिए मास्टर साहब तथा साणय का अर्थ युक्तिशून्य हिंसापरक होने से मान्य नहीं हो सकता। पाठक स्वयं विचार करें। इन मांसखोरों ने स्वार्थवश वेद की कैसी दुर्दशा कर डाली है॥

सान्वयार्थ—हे अग्ने! (ते) तुम्हारे लिये (हृदा) अपने अन्तःकरण से (तष्टं) संस्कृत अर्थात् शुद्ध २ उच्चारण करके (ऋचा हविः) ऋग्रूप हवि को (भरामसि)

उपस्थित करते हैं ऋग्रूप वह हवि (ते) तुम्हारे लिये (उक्षणः) सेचनसमर्थ (ऋषभासः) ऋषभक महौषधि (उत) और (वशा) वशा महौषधि (भवन्तु) भक्षण करने के लिये होवें ॥

भावार्थ-इस ऋचा में अध्ययन की प्रशंसा की गई है यदि समय पर उक्त महौषधियां प्राप्त न हों तो केवल स्वाध्याय से ही उस फल की प्राप्ति होती है ॥

(१) सान्वय भाषार्थ-हे मनुष्यो! (यस्मिन्) जिस अग्नि में (उक्षणः) सेचनसमर्थ अर्थात् पुष्टिकारक (ऋषभासः) ऋषभक महौषधि (उत) और (वशा) वशा महौषधि (मेषा) मेषपर्णी (आहुताः अवसृष्टासः) आहुत की गई हैं ऐसी (कीलालपे) जल को पी लेने वाली (सोमपृष्ठाय) सोम को वहन करने वाली (वेधसे) सब प्राणियों के पालक (अग्नये) अग्नि के लिये मैं (हृदा) हृदय से प्रसन्नता पूर्वक (चारुं मतिं) उसके गुणों की सुन्दर स्तुति करने को (जनये) तुम लोगों को उपदेश करता हूं ॥

इस पर भी यदि आप यही हठ करते रहें कि नहीं मेष का अर्थ भेड़ ही होगा तो कृपया निम्न दो मन्त्रों में मेष का अर्थ भेड़ करके अर्थ की संगति लगा तो दीजिएः-

(१) अभित्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिद्रंगोभिर्मदतावस्वो अर्णवम्। यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषं भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत ॥ ७ ॥

(२) त्यं सुमेषंमहया स्वर्विदं शतं यस्य सुभुवः साकमीरते । अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथ-मेन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः ॥ ८ ॥

सामवेद एन्दपर्व चतुर्थाध्याय तृतीय खण्ड ॥

इस के आगे आप ने मांसभक्षणके प्रमाण में जिन २ मन्त्रों को उपस्थित किया है उन २ मन्त्रों का अर्थ करके दिखलाए देता हूं कि उन में हिंसा का कहीं नाम निशान भी नहीं है ।

(१) यदीदहं युधये सन्नयान्य देवयून्तन्वाशूशु-जानान् । अमाते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम् ॥ ऋ०मं०१० अ० २ सू० २७

अर्थ-हे इन्द्र ! जब मैं (अदेवयून्) देवयजन की इच्छा न करने वाले अयज्ञशील (तन्वा) शरीर से (शूशुजानान्) पुष्टबलवानों को (युधये) युद्ध के लिये (संनयानि) प्राप्त होऊं तब (अमा) याधाओं सहित मैं (ते) तुम्हारे लिये (तुम्रं) पुष्टिदायक (वृषभं) वीर्य वर्धक (तीव्रं) उत्साहवर्धक (पंचदशं) पन्द्रह पत्तों वाले (सुतं) सोम को (निषिञ्चम्) निचोड़ कर (पचानि) पकाऊं ॥

(२) अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्त्सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम् । पचन्ति ते वृषभां अत्सितेषां पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ॥

मं० १० अ० २ सू० २८

अर्थ—हे इन्द्र (ते) तुम्हारे लिये (मन्दिनः) हर्ष-कारी (तूयान्) अविलम्बित (सोमान्) सोमों को (अद्रिणा) पर्वतों से लाये हैं (एषाम्) इन को (त्वम्) आप (पिबसि) पीते हो और जो (ते) तुम्हारे लिये (वृषभान्) वीर्यवर्धक पदार्थों को (पचन्ति) पकाते हैं (तेषां) उन को आप (अत्सि) खाते हैं और हे (मघवन्) इन्द्र! (त्वं) आप (यत्) जब (पृक्षेण) निर्मित हविष्यान्न से (हूयमानः) याज्ञिकों के द्वारा किये गये यज्ञ में सत्कृत होते हो तब हमारा उत्साह बढ़ता है।

(३) वृषाकपायिरेवतिः सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं ह-
विर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

ऋ० मं० १०, अ० ७, सू० ८६, मं० १३

अर्थ—हे (वृषाकपायि) सुख की वर्षा करनेवाली (रेवति) धनवाली (सुपुत्रे) श्रेष्ठपुत्रवाली (सुस्नुषे) श्रेष्ठ मधुरवाग्वती तेरा यह इन्द्र (उक्षणः) सेचन समर्थ (आदु) शीघ्र ही (काचित्करम्) सुखार्थ चयन किये हुये (हविः) हविष्यान्न को (घसत्) प्राशन करे क्योंकि तेरा पति (इन्द्रः) इन्द्र (विश्वस्मात्) सब से (उत्तरः) श्रेष्ठ है॥

(४) उक्षणो हि मे पंचदश साकं पचन्ति विंश-

तिम्। उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

ऋ० मं० १० अ० ७ सू० ८६ म० १४

अर्थ-हे ऋत्विजो मेरे लिये जो (पंचदश) पन्द्रह पत्तों वाले सोम और (विंशतिम्) बीस प्रकार के (उक्थः) पराक्रमवर्धक उत्तम २ पदार्थों को (साकं) इन्द्राणी के सहित (पचन्ति) पकाते हो (उत अपि च, अहम् अद्मि) मैं उन को खाता हूं और खाकर (पीव इत) स्थूल भी होता हूं और (मे) मेरी (उभा) दोनों (कुक्षी) कोख सोमरस से (पृणन्ति) परिपूर्ण हो जाती हैं (सः) वह मैं इन्द्र (सर्वस्मात्) सब से (उत्तरः) उत्तम हूं ॥

(५) कर्हि स्वित्सा त इन्द्र चेत्यासदघस्य यद्मिनदो रक्ष एषत्। मित्रक्रुवो यच्छस-ने न गावः पृथिव्या आधृगमुया शयन्ते॥

(मं० १०, अ० १०, सूक्त ८६)

अर्थ-हे (इन्द्र !) राजन् ! (ते) तेरा (सा चेत्या) वह वैरियों को चेताने वाला अस्त्र (कर्हि-स्वित्) किसी समय भी (असत्) निरर्थक न होवे (यत्) जब (अघस्य) न मरा हुआ अर्थात् बलवान् राक्षस (एषत्) मारनेके लिये आवे तब उसको (भिनद) नष्ट करो (मित्रक्रुवः) मित्रों के साथ क्रूरकर्म करने वाले तेरे वैरी (शासने गावः न) जैसे बध्यभूमि में पशु मर कर गिर जाते हैं वैसे ही (अमुया) इस

(पृथिव्या) विस्तृत अस्त्र से (आपृक्) सम्पर्क होते ही (शयन्ते) पृथिवी पर सो जावें।

इस मन्त्र में भी कहीं खाने पकाने का नाम नहीं है। न तो इस से पशु मारने की विधि न ऋषियों के खाने का प्रमाण मिलता है। आप तो उपमा देने मात्र से मांसभक्षण सिद्ध करने को तैयार हो जाते हैं। धन्य! आप को तथा आप की बुद्धि को! इस विषय में पूर्व भी लिख आए हैं कि केवल उपमा देदेने से मांसविधि सिद्ध नहीं होती। आप को तो विधिवाक्य दिखाना चाहिए। आजकल हमलोग कहते हैं कि हमारी अङ्गरेज़ीसेना बैरियों को ऐसे काटती है जैसे क़साई लोग पशुओं को काटते हैं तो क्या इस से यह सिद्ध हुआ कि हम लोग मांस खाते हैं? आप को कहीं पर 'गो' शब्द मिला कि बस मांस खाने का स्वप्न देखने लग जाते हैं।

सखा सख्ये अपचत्तूयमग्निरस्य क्रत्वा महिषा त्री शतानि। त्री साकमिन्द्रो मनुषो सरांसि सुतमपिबद् वृत्रहत्याय सोमम्॥

आप का अर्थ है:-अपने मित्र की सहायता के लिए इन्द्र के मित्र अग्नि ने तुरन्त तीनसो महिष पकाए। इन्द्र ने वृत्रवध निमित्त मनु का दिया हुआ तीन सरोवर सोमरस एकदम पी लिया।

समीक्षा--आप ही के किए हुए अर्थ में कहां लिखा है कि ऋषियों ने मांस खाया? पकावे कौन और नाम हो किस का। अग्नि तो महिष क्या मनुष्य, पशु, पक्षी, खाद्य, अखाद्य सभी वस्तुओं को जला देताहै। तब क्या हम लोग मनुष्य खातेहैं?

मास्टर साहब! थोड़ा बुद्धि से काम लिया कीजिए तो आप को सत्य अर्थ मालूम हो जाया करेगा। अग्नि तो जड़ है सो क्या वह शरीर धर के भैंस पका कर इन्द्र को खाने के लिए देता है? इस प्रकार असङ्गत अर्थ व्यर्थ है। अब सत्यार्थ सुनिए।

(अस्य) इस सूर्य का (सखा) सहायक (अग्निः) ग्रीष्मकालाग्नि (सख्ये) मित्र सूर्य के लिये (त्री) तीन (शतानि) अतुल (महिषा) बड़े (मनुषः)

मनुष्यों के उपकारक (सरांसि) जलाशयों को (तूयं) शीघ्र (कृत्वा) अपने तपनरूप कर्म से (अपचत्) पकाता (औटाता) है और उन (त्री) तीनों के वाष्प द्वारा (सुतम्) खींचे हुये (सोमम्) जल को (वृत्र-हत्याय) जल बरसाने के लिये (इन्द्रः) सूर्य (साकं) एक साथ ही (अपिवत्) पी लेता है-सोख लेता है।

तात्पर्य्य यह है कि सूर्य का सहायक मित्र अग्नि सूर्य के लिए तीन बड़े २ अन्तरिक्ष, पृथ्वी, द्युलोक स्थित जलाशयों को अपनी ग्रीष्मकालोष्मा से मेघ बरसाने के लिए एक ही बार सोख लेता है। इसी अभिप्राय से चरक सूत्र अ० ६ में लिखा है॥

मयूखैर्जगतः सारं ग्रीष्मे पेपीयते रविः ।
महिषः महन्नामसु पठितः नि० अ० ३ अं० ३

त्री यच्छता महिषाणामघोमास्त्रो सरांसि मघवा सोम्यापाः । कारं न विश्वे अहन्त देवा भरमिन्द्राय यदहिं जघान ॥ ऋ०मं ५ सू० २९ मं० ८

इस में भी मांस शब्द नहीं आया है। केवल महिष शब्द देख कर मनमाना अर्थ कर दिया अर्थ यों है:-

अर्थ-हे सूर्य (यत्) जब आप (त्री) तीनों लोकों में वर्त्तमान (महिषाणां) बड़े २ (शता) सैकड़ों असंख्य पदार्थों के (माः) सारभाग को (अघः) भक्षण कर लेते हैं अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों को अपने तेज से छिन्न भिन्न कर देते हैं और जब (मघवा) धनवान् आप (सोम्या) सोमगुणयुक्त (त्री) तीनों लोकों में वर्त्तमान (सरांसि) जलों को (अपाः) पान कर लेते हैं। अर्थात् अपनी उष्णता से सम्पूर्ण जलों को सोख लेते हैं। जल खींचने के अनन्तर जब उसका बादल बन जाता है तब (इन्द्रः) सूर्य जब (अहिं) मेघ को (जघान) नाश करता है । अर्थात् मेघ को नष्ट कर जब वृष्टि करता है तब (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (भरं) अन्नादि से भरण पोषण करने वाले (इन्द्राय) इन्द्र को (अहन्त) उसी

अन्नादि से यज्ञादि करने के लिए बुलाते हैं अर्थात् विद्वान् लोग यज्ञादि करके सूर्य की प्रशंसा करते हैं (कारं न) जैसे परिश्रमियों के सहारे से जीने वाले लोग काम करने वाले को उसके परिश्रम का भाग देकर उस की प्रशंसा करते हैं। महिष इति महन्नाम। सरः इति उदक नाम। सूर्य धनवान् इस लिए कहा गया है कि इसी सूर्य के कारण मनुष्य धनोपार्जन करता है। धनोपार्जन का कारण होने से मघवा कहा जाता है।

वर्धान्यं विश्वेमरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषांइन्द्र तुभ्यम्। पूषा विष्णुस्त्री सरांसि धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै ॥ ५। २९। ७ ऋग्वेदे

(यः पूषा जो पुष्टिकारक (विष्णु) सूर्य (त्रीणि सरांसि) तीनों स्थानों में अर्थात् पृथिवी में अग्निरूप से अन्तरिक्ष में विद्युद्रूपसे द्युलोक में आत्मरूपसे (धावन्) व्यापक है। (य) जिस सूर्य को (विश्वे सजोषाः मरुतः) समानप्रीतियुक्त सम्पूर्ण ऋत्विज्लोग (वर्धान्) स्तुति से बढ़ाते हैं। (इन्द्र) हे सूर्य! जो ऋत्विज् लोग (तुभ्यम्) तुम्हारे प्रीत्यर्थ (शतं) बहुत से (महिषां) बड़े २ पदार्थों को हविःरूप में (पचत्) पकाते हैं अर्थात् हवि रूप में आपको समर्पण करते हैं (अस्मै) इस सूर्य की (वृत्रहणं) मेघनाशक (अंशुं) रश्मि (मदिरं) लोगों को हर्षोत्पादक होवे। मरुत् इति ऋत्विङ्नाम महिष इति महन्नाम। शतं इति बहुनाम।

विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वषितः।
शतं महिषान्क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्रएमुषम्॥

मास्टर साहब का अर्थ-हे इन्द्र तेरे समस्त जल को विष्णु देता है जो उरुक्रम और तुझ से भेजा गया है इन्द्र ने १०० महिष, दूध में पका हुआ चावल और वराह दान दिया!

समीक्षा-देखिए! अब दान देने का अर्थ मांस खाना हो गया। धन्य है बुद्धि! "मैंने चार घोड़े दान दिए" तो क्या इस का यह अर्थ हुआ कि मैंने चार घोड़े खाए। पक्षपात के मारे दान खान में अन्तर ही न रक्खा। चले थे ऋषियों का खान पान मांस सिद्ध करने परन्तु अभी तक कहीं पर विधिवाक्य न दिखला सके "तुझ से भेजा गया है" इसका अर्थ भी न खोला कहां भेजा गया? क्यों भेजा गया? इत्यादि बातें शङ्का में डालने वाली हैं अच्छा अब सत्यार्थ सुन लीजिए।

अर्थ-हे (इन्द्र) वायो! (उरुक्रमः) अपनी किरणों से सर्वत्र व्यापक अथवा अत्यंत पराक्रम वाला विष्णुः) सूर्य (विश्वा इत् ता) तुम्हारे सम्पूर्ण जलों देता है--सूर्य की किरणों से जल वाष्प रूप हो कर वायु में मिल जाता है-यही विज्ञान यहां पर दर्शाया गया है। (त्वषितः) तुम से प्रेरित होकर (इन्द्रः) सूर्य जब (एमुषम्) जल को चुराने वाले (वराहम्) मेघ को हनन करता है तब वृष्टि होने के कारण सम्पूर्ण प्राणियों को (शतं) असंख्य (महिषान्) बड़े २ लाभदायक (ओदनं) अन्नादि पदार्थ तथा (क्षीरपाकम्) क्षीरोपलक्षित सब प्रकार के मधुर रसों के साथ पकाये जाने वाले पदार्थ मिलते हैं॥

जब सूर्य के कारण वृष्टि होती है-अनेक प्रकार के अन्न पैदा होते हैं-वनस्पतियां बढ़ती हैं जिन्हें खा कर गाय भैंसे इत्यादि पशु दूध देते हैं जिससे मनुष्यों का बड़ा कल्याण होता है।

लेखक ने लिखा है कि जब आर्य भाषाओं में अग्नि का अर्थ आग, अश्व का अर्थ घोड़ा, उक्षण का अर्थ बैल, गौ का अर्थ गाय है तो तुम किस अधिकार से प्राचीन वेदमन्त्रों में और ही कोई अर्थ लगा सकते हो?

समीक्षा-धन्य है लेखक की विद्वत्ता को! इसी भरोसे से वेदमन्त्रों की समीक्षा करने चले थे। मालूम होता है कि मास्टर साहब

संस्कृत साहित्य से नितान्त अनभिज्ञ हैं। मास्टर साहब को अभी तक यही नहीं मालूम की आर्य भाषा कौनसी है? लेखक ने अंग्रेजी फारसी लेटिन, फ्रेंच को भी आर्यभाषा में परिगणित किया है। परन्तु लेखक की इसमें बड़ीभारी भूल है। हम पूछते हैं कि जब उक्त भाषाओं में आर्य शब्द ही नहीं, तो उन्हें आर्य भाषा आप किस आधार से कहते हैं? यदि आप यही हठ करें कि अश्व का अर्थ घोड़ा ही, उक्षण का अर्थ बैल ही, गौ का अर्थ गाय ही, मेष का अर्थ भेड़ ही वेद में होता है-अन्यथा नहीं, तो निम्न लिखित मन्त्रों में आए हुए अश्व, मेष, उक्षण, वृषभ, गौ का अर्थ अपनी प्रतिज्ञानुसार घोड़ा, भेड़, गाय, बैल करके दिखला दीजिए तो मैं आज ही क्रस्तान होने के लिए तैयार हूं-यह मेरी प्रतिज्ञा है:—

वृषभ—तमिन्द्र वाजयामसि महेवृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत्॥

वृष—वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः तं हविष्यन्त ईड़ते॥

ऋषभ—हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः॥

गौ—अत्राह गो रमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे॥
स शेरुवद्वृषभस्तिग्मशृंगो वर्ष्मन्तस्थौ वरिमन्नापृथिव्याः विश्वेष्वेनं वृजनेषु पामि यो मे कुक्षी सुतसोमः पृणाति॥

मेष—देखिये पीछे का मन्त्र (१) अभित्यं मेषं इत्यादि तथा (२) त्यं सुमेषं महया इत्यादि मन्त्र॥

अश्व—अश्वावतीं सोमवतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आविक्षि षर्वा ओषधी रस्माअरिष्टतातये॥

आगे आप लिखतेहैं कि बा० रमेशचन्द्र के अनुवाद से मैंने विशेष सहायता ली-बस इसी से प्रकट है कि आप संस्कृत के धुरंधर पण्डित हैं। दूसरे के अनुवाद किये पर से वेदों पर टिप्पणी करने चले तब पद २ पर भ्रम में न पड़ें तो कैसे? बा० रमेशचन्द्र ने तो पश्चात्य लोगों की राय में राय मिलाई है। इन्हों ने तो राम सीता को अलंकार बतला कर हमारे पूर्वेतिहास पर पानी फरना चाहा है। न तो इन्होंने गवेषणा पूर्वक वेद का अध्ययन किया और न पाश्चात्य विद्वानों ने और विषयों की तरह इस विषय में परिश्रम किया। अपने संस्कार दोष से मनमाना अर्थ कर डाला। रह गया सायण भाष्य, तो कहना पड़ेगा कि मनुष्य ग़लती करता ही है। कहीं पर सायण ने भी अर्थ नहीं समझा-यथा "दाधर्थ पृथिवी मभितो मयूखैः" इस मन्त्र में सायण मयूख का अर्थ पहाड़ करते हैं तथा महीधर वराहादि अवतार करते हैं। सायण समझते हैं कि भगवान् ने इस पृथ्वी के ऊपर हिमालयादि पर्वत इस लिए स्थापित किए हैं कि पृथिवी चलायमान न हो। इन लोगों को पृथ्वी की आकर्षणशक्ति का ज्ञान न था। तब भला इन का भाष्य साद्यन्त कैसे समुचित हो सकता है। इसी तरह अनेक मन्त्र हैं जहां पर सायण महीधर ने बड़ी भारी भूल की हैं-इनके बाद जितने पाश्चात्य तथा यहां के रमेशचन्द्रादि पण्डित हुए, इन्हीं दोनों के संस्कृत भाष्यों पर से अंग्रेजी तथा भाषानुवाद करते गये। बस जो ग़लती पहले उन से हो गई, वह ग़लती बराबर चली आ रही है। और लोग लकीर के फकीर बनकर वेद को कलङ्कित कर रहे हैं। इन पर विचार करना विद्वानों का काम है न कि आप सरीखे लकीर के फकीरों का। वेदमन्त्रों में कहीं भी गोमांसभक्षण का गन्ध नहीं है॥

भोले भाई! हिन्दुओं को बहकाने के लिए आप ने यह चाल चली मालूम होती है। आपके साथ वेही सहमत होंगे जो आप ही सरीखे संस्कृत के ज्ञान से अनभिज्ञ हैं। सब काल में सात्विक राजसिक तामसिक मनुष्य होते आए हैं। वैदिककाल में भी मांसाहारी थे। वेही राक्षस कहलाते थे। रावण ब्राह्मणवंश में होने पर भी इसी मांसाहार से राक्षस कहलाता था। जब उस वैदिककाल में दुष्ट लोग हिंसा करते थे तो ऋषि लोग उन्हें मना करते थे। आप वेद को इतिहास मानते हैं। यह आप की भूल है। वेद में मान-

नीय इतिहास का कहीं भी गन्ध नहीं। जहां पर आप को इतिहासाभास मालूम होता है वहां पर आप या अन्य इतिहास मानने वाले वेदके गूढाशय को नहीं समझते। पं० शिवशङ्कर चौधरी का बनाया हुआ 'वैदिकइतिहासनिर्णय' नामक पुस्तक पढ़ जाइये, आप का सब भ्रम काफूर हो जायगा। अन्य पुस्तकों की बातें यदि वेदानुकूल हैं तो वे मान्य हैं, यदि विरुद्ध हैं तो मान्य नहीं। यही सम्पूर्ण शास्त्रों का सिद्धान्त है। आप का यह लिखना कि "बङ्गाली ब्राह्मण अब तक मांस खाते हैं"। यह क्या प्रमाणकोटि में है? यदि वे मांस खाते हैं तो क्या हम मानलें कि उन का खानपान सब-वेदानुकूल है।

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नुता हविः॥

इस मनुवाक्य से मांस खाने की मति रखने वाले बङ्गाली ब्राह्मण ही क्यों समस्त हिन्दू अनार्य कहे जावेंगे। आज प्रायः व्यभिचार, चोरी, डकैती चारों ओर हो रही है तो इस से क्या यह सिद्ध हुआ कि इस को करने के लिए वेद आज्ञा देता है? प्रचलित बातों तथा रिवाजों पर से आप वेद सरीखे गूढविज्ञान का पता लगाना चाहते हैं। यह आप की भूल है। आप ने पृष्ठ ३ में लिखा है कि उच्चश्रेणी के लोग मांस खाना पाप समझते हैं, यदि आप की यह धारणा सत्य है तो आपके कथनानुसार बङ्गाली ब्राह्मण किस श्रेणी में लिए जावेंगे?

ख—अन्यान्य शास्त्रप्रमाण।

इस भाग का समाधान लिखने के पहिले यह लिख देना उचित समझता हूं कि वेद के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण सूत्रादि ग्रन्थों में वामियों ने अपनी इष्टसिद्धि के लिए प्रक्षेप किया है। मनुष्य की

प्रकृति भिन्न २ प्रकार की होती है। जब मांस खाने की ओर लोगों की प्रवृत्ति अधिक बढ़ने लगी-भारत में वेदमार्ग नष्ट होने से अंधकार छा गया-वेद का पठन पाठन छूट गया-तब वामियों ने ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों में मांसभक्षण बलिदान का प्रक्षेप डालना प्रारम्भ किया। इस प्रकार वेदकी आड़ में हिंसा यहां तक बढ़ी कि बुद्ध भगवान्को इसके दूर करने के लिए जन्म लेना पड़ा। उन्होंने भी एक भारी भूलकी-यदिवेद लेकर आगे बढ़ते तो उनके मतका इसी देशमें ह्रास न हो जाता-परन्तु उन्होंने उस समय वेद के जानने के बखेड़े में पड़ना उचित न समझा। वेद के एक अंश "अहिंसा परमो धर्मः" का प्रचार करना आरम्भ किया परन्तु धीरे २ नास्तिकवाद की नीव पड़ने लगी। अन्त में स्वामी शंकराचार्य्य ने इसका विध्वंस ही कर डाला। यदि स्वामी जी कुछ काल तक और जीते रहते तो वैदिकधर्म का ह्रास न होता—परन्तु ऐसा न हुआ। स्वामी जी के समय में भी तांत्रिक, अघोर आदि वेद-मार्ग विरोधी थे। हम को इस का प्रमाण भी मिलता है:—

श्रुत्याचारं परित्यज्य मिथ्याचारं समाश्रिताः।
केचित्कापालिकाचाराः मद्यमांसाशिनः सदा॥
एकस्यैव मतस्यापि भेदषट्कं समाश्रिताः॥

पृ० ६-७-शं० दि०-

वेदोक्तकर्महीनाश्च तांत्रिकाचारतत्पराः। पृ ३८
श्रुतिविरुद्धाचारतत्परान् युष्मान्निक्षेप्तुमागमम्
मद्यमांसाशिनां नृणांब्राह्मण्यहानि दर्शनात्॥

स्वामीजी ने मांस मदिरा का खण्डन किया था और इसे वेद-विरुद्ध मानते थे जैसा कि ऊपर के श्लोकों पर से प्रकट है। इसलिए वेद का अभिप्राय मांस खिलाने का नहीं-किन्तु निषेध का है। उन के मरने के बाद वाममार्गियों ने फिर जोर पकड़ा—शास्त्रों पुराणों में

प्रक्षेप डाल कर देशको नष्ट भ्रष्ट करडाला और अब भी ये लोग मनमाना अर्थ करके लोगोंको भ्रम में डाल रहे हैं। यहां तक कि संन्यासी कहलाने वाले भारतधर्ममहामण्डल के एक प्रसिद्ध व्यक्ति ने भी अपने सत्यार्थविवेक में लिख माराहै कि यज्ञमें मांस खाना चाहिए। परन्तु प्रमाण एक भी नहीं दिया-देवें कहां से, मनमाने लेख में प्रमाण कहां मिल सकता है? स्वामी जी से प्रार्थना है कि वे वैदिक ग्रन्थों का अनुशीलन करें-लोगों को प्रसन्न रखने के लिए सत्य का त्याग न किया करें।

हम यह थोड़े ही कहते हैं कि वैदिककाल में तथा उस के परवर्त्तीकाल में मांसभक्षी नहीं थे। थे अवश्य, जैसा कि मैं पूर्व लिखही चुका हूं, परन्तुवे ही अनार्य्य, राक्षस, दस्यु, पिशाचादि कहे जाते थे। वेद में आर्य अनार्य, दो जातियों के मनुष्यों की शिक्षा हमें मिलती है। और अनार्य वेही थे जो वेदानुकूल न चलकर मांसभक्षी, मद्यपी, व्यभिचारी, धर्मभ्रष्ट थे।

आपने जो शतपथ ब्रा० काण्ड ११ अ० ७ ब्रा० १ क० ३ का हवाला देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि याज्ञवल्क्य बैल गायका मांस खाते थे, इस में पाप नहीं समझते थे। परन्तु यह मास्टर साहब का प्रमाद है, जब वेद स्वयं मना करता है और ऋषिलोग वेदके पूर्ण ज्ञाता थे तो याज्ञवल्क्य मांस खानेको पाप नहीं समझते थे—ऐसा लिखना बड़ी भूल है। अथर्व० का० ८, अ० ४, मं० २२ में लिखा है " य आममांसमदन्ति पौरुषेञ्च ये क्रीवः गर्भान् खादन्ति केशवास्तानि तो नाशयामसि " जो लोग कच्चे अथवा मनुष्य के पकाये अथवा अण्डों को खाते हैं, ऐसे दुष्टों का मैं नाश करता हूं। अथर्ववेद के काण्ड ६, अ० ७, सू० ११, म० १ में लिखा है कि मांस, मदिरा, व्यभिचार से मन में भ्रम हो जाता है। जब वेद स्पष्ट शब्दों में मांसभक्षण का निषेध करता है तो फिर वेदवेत्ता ऋषि के लिए यह लिखना कि वे मांसभक्षणमें पाप नहीं समझते थे और खाते थे कितना भारी अन्याय है। यदि कोई भी अंश किसी शास्त्र

वा स्मृति का वेदविरुद्ध है तो वह मानने योग्य नहीं, यह एक सर्व-तन्त्र सिद्धान्त है। अब आगे बृहदारण्यक के गर्भाधान का समाधान सुनिए। आप को इस में भ्रम हुआ है।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विजिगीषः समितिङ्गमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत। सर्वान् वेदाननुब्रवीत। सर्वमायुरियादिति। मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽर्षभेण वा।

यहां पर मांसौदन (मांस और चावल) "औक्षेण" "ऋषभेण" इन्हीं पदों ने आप तथा अन्य लोगों को शंका में डाल दिया है। अब देखना चाहिए कि गर्भाधान के समय वैद्यक शास्त्र किन २ वस्तुओं के खाने तथा किन किन वस्तुओं के न खाने का विधान करता है।

चरक शा० स्थान अ० ४:-

गर्भोपघातकरास्त्विमे भावा..... न रक्तानि वासांसि बिभृयात् न मद्यकरीणि चाद्यात् न अभ्यवहरेत् न यानमधिरोहेत्-न मांसमश्नीयात्-सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेत्।

ये पदार्थ गर्भ के हानि करने वाले हैं-रक्त कपड़ा पहनना, मद्यकारक पदार्थों का सेवन, मांस खाना, यान पर चढ़ना-इसलिए गर्भाधान में इनका सेवन न करे:—

सुश्रुत शारीराध्याय २ में लिखा है:-

ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिः स्निग्धः सर्पिक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं

ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहाराम् नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभिरभिवि श्वास्य विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यां दशम्यां द्वादश्याम् च उपेयादिति पुत्रकामः ॥

अर्थः—गर्भाधान करने वाला पुरुष महीने भर तक ब्रह्मचारी रहा पुरुष गर्भाधान के दिन अपराह्न में घी से स्निग्ध, घी और दूध के साथ शाली चावल के भातको खाकर एक मास तक ब्रह्मचारिणी रहने वाली तिल तैल से स्निग्ध, तैल और उड़द प्रधान आहार की हुई स्त्री को गर्भ की हानिकारक बातें समझाबुझा देने पर सब तरह से प्रेमोत्पादन करके चतुर्थी षष्ठी दशमी, द्वादशी में पुत्र की इच्छा से गमन करे।

तथा चरक शा० स्थान० अ० ८ में गर्भाधान में उड़द ही का उल्लेख है। यथाः—

मधुरौषधसंस्कृताभ्यां घृतक्षीराभ्यां पुरुषं स्त्रियंतु तैलमाषाभ्याम् ॥

अर्थात्-वर्गोक्त मधुर औषधियों से संस्कार किए घृत और दुग्ध से पुरुष को, तैल और उड़द से स्त्री को गर्भाधान के योग करे।

इन उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि गर्भाधान के समय माषौदन चाहिए न कि मांसौदन जो गर्भाधान में सर्वथा वर्जनीय है। पुस्तक में एक वार जो अशुद्ध छप गया तो छप गया। कोई उस पर ध्यान देकर शुद्ध नहीं कर देता। अब अर्थ यों हुआः—

(अथ) इस के बाद (यः इच्छेत्) जो कोई इच्छा करे (मे पुत्रः पण्डितः) मेरा पुत्र पण्डित (विजिगीषः) विजयी (समितिङ्गमः) सभाओं में

जाने योग्य सभ्य शुश्रूषितां) सुशिक्षित श्रवणेच्छा-जनक (वाचं) वाणी का (भाषिता) बोलने वाला (सर्वान् वेदान्-अनुब्रुवीत) सब वेदों को पढ़े पढ़ावे (सर्वं-आयुः-इयात्) सम्पूर्ण आयु को भोगे (वा) इस प्रकार (जायेत) उत्पन्न हो वे (सर्पिष्मन्तम् घृतयुक्त (माषौदनं) उड़द और चावल को (पाचयित्वा) पकवाकर (ऋषभेण) अथर्ववर्णोक्त ऋषभक नामक महौषधि के साथ (अश्नीयाताम्) स्त्रीपुरुष खावें तो (इति) इस (औक्षणेन) ऋषभक महौषधि के निषेकप्रयोग से (ईश्वरौ) दोनों समर्थ होते हुये (वै) अवश्य (वा) ऐसा (जनयितः) उत्पन्न करते हैं ।

" ऋषभोवृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि " ये नाम ऋषभक महौषधि के हैं । यहां पर इसी औषध का प्रयोग करने के लिए कहा गया है । क्योंकि यह बहुत वीर्य बढ़ाने वाली ओषधि है । अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है जिस से स्पष्ट हो जाता है कि गर्भाधान के समय जो ऋषभ खाने को इस श्रुति में लिखा है, वह बैल वाचक नहीं किन्तु महौषधि वाचक है ।

यानि भद्राणि वीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूधेनुका भव ॥

भविष्य में पिता बनने की इच्छा वाले हे मनुष्य ! तू अरोगिता प्रदान करने वाले ऋषभ के वीज की सहायता से पुत्र उत्पन्न कर और भविष्य में माता कहलाने वाली स्त्री को पुत्रवती और स्तनों में खूब दूध वाली होने दे ।

इस वेदमन्त्र के सामने यह कहने का किसे साहस हो सकता है कि मनुष्य को पुत्र उत्पन्न करने के लिए ऋषभ ओषधि को छोड़ बैल का मांस खाना चाहिए।

पाठकगण समझ गए होंगे कि यहां माषौदन, औक्षेण, ऋषभेण का अर्थ मांस, बैल इत्यादि नहीं है किन्तु उड़द तथा ऋषभक महौषधि है। पण्डित पीताम्बर ने भी ऋषभ का अर्थ यहां पर ओषधि ही किया है परन्तु मास्टर साहब लिखते हैं कि उन्होंने हिन्दुओं को प्रसन्न करने के लिए ऐसा अर्थ किया है। अस्तु, जो हो, मास्टर साहब तो अपनी ही कहेंगे क्योंकि उन्हें तो इधर उधर से मांसभक्षण सिद्ध करना है।

आगे आप लिखते हैं "हिन्दु लोग अपने प्राचीन ऋषियों के ज्ञान की बहुत बड़ाई करते हैं परन्तु यदि ये नाम बूटियों के हों तो कहना पड़ेगा कि प्राचीन ऋषियों का ज्ञान बहुत ही नकारा था। नहीं तो वे जीव और उद्भिजों के नाम एक से क्यों रखते?" ॥

जब आंख में पीलिया की बीमारी होती है तो लाल, काला, हरा, उज्ज्वल सभी के सभी पीले दिखलाई देते हैं। मास्टर साहब का ज्ञान स्वयं नकारा है, इसी से उन के ज्ञान को नकारा कह रहे हैं। बिना बाप के लड़के का कुमारी लड़की से होना, तथा ज्योतिषियों के साथ २ आगे २ तारे का यीशू के घर तक जाना, ईश्वर का झाड़ी में लुकना, चौथे दिन सूर्य को बनाना इत्यादि असम्भव बात मानने वाले मास्टर साहब का ज्ञान तो नकारा नहीं, परन्तु ऋषियों का ज्ञान नकारा है जिन के ज्ञान की प्रशंसा आज शोपनहार तथा मैक्समूलर इत्यादि बड़े २ पाश्चात्य विद्वान् मुक्तकण्ठ से करते हैं। यदि चौथे दिन सूर्य बनाया तो तीन दिन की गणना कैसे हुई? दिन की गणना तो सूर्य ही से होती है। अस्तु। आजकल भी लोग अपनी लड़कियों के नाम गङ्गा, यमुना, नर्मदा रखते हैं और ये ही नाम नदियों के भी हैं। यदि कोई गङ्गा आई या जमना आई इत्यादि कहेंगे तो क्या इस से गंगा या यमुना नदी समझिएगा? एक २ शब्द के कई २ अर्थ

होते हैं, यह बात केवल संस्कृत ही में नहीं प्रायः सब भाषाओं में होती है। प्रकरण देखकर अर्थ लगाना विद्वानों का काम है। अपनी अयोग्यता से यदि अर्थ न जाने, तो इस में ऋषियों का क्या दोष है? ऋषि लोग प्रायः बन ही में रहते थे। क्या आप को यह बात मालूम नहीं?। और इस समय क्या कन्द मूल बाज़ारों में बिकने नहीं आते कि आप कन्द लाने की शङ्का आपके मस्तिष्क में घुस गई? जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, वह उस वस्तु को कहीं न कहीं से ले ही आता है। जब वैदिक गर्भाधान की विधि प्रचलित थी तब ऋषभक इत्यादि भी बाजारोंमें मिला करते थे। परन्तु जब से मांस-खोरा का रोग बढ़ा तब से इस की पहचान भी जाती रही। अब च्यवनप्रास में इसके बदले दूसरी ओषधि पड़ती है क्योंकि ऋषभक लोगों को मिलता ही नहीं।

ऐतरेय ब्राह्मण का भाग वेदविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। दूसरे उस पर किसी वेदमन्त्र का विनियोग नहीं। पूर्णभाग पढ़ जाइए तब सब ज्ञान होजायगा। नाटकोंकी बात प्रमाण कोटि में नहीं। वेदविरुद्ध होने से धर्म में प्रमाणकोटि में नहीं आ सकते। गोघ्न का अर्थ पूर्व में लिखा जा चुका है। वहां ही देखलो। पिष्टपेषण व्यर्थ है।

आप नाटक परसे दिखलाते हैं कि वशिष्ठ ने विश्वामित्र का सत्कार मांस से किया है। परन्तु वाल्मीकीय रामायण में, जो कि रामचन्द्रजी के समय का बना है, कन्द मूलसे सत्कार करना लिखा है। यथाः—

नानाविधान्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान्।
तेभ्योददौ तप्ततपावासं चैवाभ्यकल्पयत्॥

तप तपने वाले वशिष्ठ जी ने उन राम लक्ष्मण और विश्वामित्र जी को अनेक प्रकार के वन में उत्पन्न हुए अन्न पौण्ड्रकादि के रस, मूल और फल दिए और रहने के लिए स्थान दिया।

वाल्मीकिरामायण बा० कां० सर्ग ५५

स्वागतं तव चेत्युक्तो वशिष्ठेन महात्मना।
आसनं चास्य भगवान् वशिष्ठो व्यादिदेश ह २

उपविष्टाय च तथा विश्वामित्राय धीमते।
यथान्यायं मुनिवरः फलमूलमुपाहरत् ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां वसिष्ठाद्राजसत्तमः।
तपोग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्य्यपृच्छत ॥ ४ ॥

अर्थ—महात्मा भगवान् वशिष्ठ ने विश्वामित्र जी का स्वागत करके आसन दिया और समीप बैठे हुए बुद्धिमान विश्वामित्र जी के लिए मुनिवर ने यथोचित फल मूल भेंट किए। उस सत्कार को वशिष्ठ से लेकर विश्वामित्र जी ने तप, अग्निहोत्र और शिष्यों की कुशल पूछी।

अब तो आप समझ गए होंगे कि महर्षि वशिष्ठ ने विश्वामित्र के लिए गाय बैल नहीं मारे, किन्तु फलमूल दिए। अब आप का गो-मांस कहां गया? उत्तर रामचरित की बातें असत्य हुईं या नहीं? क्योंकि रामायण के आगे आधुनिक नाटक उत्तर रामचरित की बातें कौन विद्वान् मान सकता है?

मधुपर्क विचार।

"समांसो मधुपर्को भवति" यह प्रमाण अवैदिक है। यह वाम-मार्गियों की लीला है। हां यदि मांस के अर्थ से फलों के गूदों से अभिप्राय हो तो अलबत्ता यह मान्य हो सकता है, परन्तु जांगम-मांस अर्थ करने पर शास्त्रविरुद्ध हो जाता है।

मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं कांस्ये कांस्येन ।

कांसे के पात्र में कांसे के पात्र से ढके हुए दही, शहद, घी मधुर द्रव्य और घृत ये मिले हुए मधुपर्क कहलाते हैं। इस पर गदाधरी टीका यों है:—

आज्यमेकपलं ग्राह्यं दध्नस्त्रिपलमेव च ।
मधुनः पलमेकं तु मधूपर्कः स उच्यते ॥

"मधूनां मधुररसात्मकानां द्रव्याणां पर्कोयोगो यस्मिन्सः" । शब्दार्थ से भी मीठे पदार्थों के संयोग का नाम मधुपर्क है।

मधुपर्क शुभकार्यों में वर या अतिथि को दिया जाता है और शुभकार्यों में पशुहिंसा का पुराण से भी निषेध है।

"देवयज्ञे पितृश्राद्धे तथा माङ्गल्यकर्मणि ।
तस्यैव नरके वासो यःकुर्यात् जीवघातनम् ॥"

पद्मपुराण में लिखा कि देवयज्ञ पितृश्राद्ध तथा सम्पूर्ण मंगलमय कार्यों में जो जीवहिंसा करता है उसे नरक भोगना पड़ता है।

मनुस्मृति और मांसप्रकरण।

वेद से हटकर मनुस्मृति पर आगए। जब वेद से मांसभक्षण सिद्ध नहीं होता तब मनुस्मृति से क्या सिद्ध होगा? क्योंकि मनु भी तो कहते हैं कि "धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" धर्म जानने वालों के लिए सबसे बढ़कर प्रमाण वेद है। जब वेद से मांसभक्षण का निषेध है जैसा पिछले लेखों में दिखलाया गया है तब मनुस्मृति का मांसप्रकरण सर्वथा प्रक्षिप्त है। इस में और भी प्रमाण लीजिए।

सर्वकर्मस्वहिंसाहि महात्मा मनुरब्रवात्।
कामकाराद् विहिंसन्ति वहिर्वेद्यां पशून्नराः॥
सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातिनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कथ्यते॥

म० शा० प० अ० ३४०

अर्थ- महात्मा मनु ने सब कर्मों में अहिंसा बतलाई है। लोग अपनी इच्छा के वशीभूत होकर वेदी पर शास्त्रविरुद्ध पशुहिंसा करते हैं। शराब, मछली, मांस, द्विजातियों का बलि, ये बात धूर्त्तों ने फैलाई हैं, वेद में यह नहीं कहा गया है। मनु जी स्वयं लिखते हैं॥

"यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः"॥

अर्थ-मद्य, मांस, इत्यादि यक्ष, राक्षस पिशाचों का भोजन है देवताओं की हवि खाने वाले ब्राह्मणों को इसे कदापि न खाना चाहिए।

जब मनुजी के वचन से ही यह सिद्ध होगया कि मांस मदिरा पिशाचों का भोजन है। ब्राह्मण को नहीं खाना चाहिए तब न मालूम किस अधार से मास्टर साहब ऋषियों को मांसाहारी सिद्ध करना चाहते हैं। इस लिए मनुस्मृति में का मांसप्रकरण बिलकुल प्रक्षिप्त है। आगे हम वेद के २ मन्त्र और देते हैं जिन में देवयज्ञ तथा पितृयज्ञ में मांस का निषेध है क्योंकि आजकल बहुत से हमारे सनातनी भाई भी कह बैठते हैं कि देवयज्ञ में पितृयज्ञ में मांस का विधान है। पं० ज्वालाप्रसाद जी ने तो अपनी मनुस्मृतिटीका में स्पष्ट ही लिख मारा है कि पूर्वकाल में श्राद्ध में मांसपिण्ड वेदानुकूल था। कलियुग में मना कर दिया गया। इस लिए वेदमन्त्र देने से हमारे पण्डित जी की लालबुझक्कड़ी भी हवा हो जावेगी तथा अन्य लोग जो वेदानुयायी कहलाकर कठ दलीली किया करते हैं। सत्य वेदविधि को जान कर हिंसा से अलग रहें।

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमिदूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतुप्रजानन् ॥

(क्रव्यादम् अग्निं दूरं प्रहिणोमि) ईश्वर कहता है कि हे मनुष्यो! मांसभक्षक अग्नि को मैं तुम्हारे घर से दूर करता हूं।

(रिप्रवाहः यमराज्ञः गच्छतु) वह पाप वाहक अग्नि मेरे अन्य स्थान में जावे (इह) तुम्हारे घर में (अयम्) इतरः जातवेदाः एव) यह दूसरा अग्नि जो क्रव्याद् नहीं है वही (प्रजानन्) सभों से विज्ञायमान होके (देवेभ्यः) वायु इत्यादि देवताओं को (हव्यं) हव्य (वहतु) पहुंचावे ॥ १०—१६

(यमराज्ञः) यम=ईश्वर वही राजा है जिन प्रदेशों का वह "यमराजा" यह बात प्रसिद्ध है कि अग्नि सर्वभक्षी है। मुरदा जलाते समय मानों मांस भी खाता है। परन्तु ईश्वर यहां कहते हैं कि तेरे घर मांस न पके जिससे कि गृह्य अग्नि क्रव्याद् न बनजावे। अक्रव्याद् अग्नि ही देवों को हव्य पहुंचावे। इस से देवयज्ञ में मांस निषेध सिद्ध हुआ अब आगे पितृयज्ञ के लिए निषेध करते हैं।

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहीमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं सधर्मान्वात् परमेसधस्थे ॥

(यः) जो (क्रव्याद् अग्निः) मांसभक्षक अग्नि (वः गृहं) तुम लोगोंके घरमें (प्रविवेश) प्रविष्ट होताहै (तम् देवम् पितृयज्ञाय) उस मांसभक्षी अग्निदेव को पितृयज्ञ के निमित्त तुम्हारे घर से (हरामि) दूर

करता हूं (इतरम् जातवेदसम् पश्यन्) दूसरे अग्नि को तुम्हारे गृह में देखा हुआ प्रसन्न होता हूं (सः) वह शुद्ध अग्नि (परमे सधस्थे) उत्कृष्ट स्थान में स्थापित होके (घर्मम् इन्वातु) यज्ञ को प्राप्त करे।

यहां पर स्पष्टरूप से वर्णन है कि पितृयज्ञ के लिए क्रव्याद् अग्नि की आवश्यकता नहीं। अब आप समझ सकते हैं कि पितृयज्ञ में मांस का निषेध किया या नहीं। यदि पितृयज्ञ में पितरों के उद्देश से मांस पकेगा तो वह अग्नि अवश्य क्रव्याद् कहलावेगा। परन्तु ईश्वर कहता है कि पितृयज्ञ के लिए उसे मैं दूर करता हूं। तेरे घर में दूसरी अग्नि को देखा चाहता हूं। इस लिए पितृयज्ञ में जहां २ मांस का विधान है वह वेदविरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य है॥

उक्त वेदमन्त्र से स्पष्ट हो गया कि किसी भी देवयज्ञ, पितृयज्ञमें जीवहिंसा वेद का सिद्धान्त नहीं तब क्यों पशुओं की हिंसा करने के लिए देवी के भक्त मनमाना प्रमाण ढूंढा करते हैं, और उन्हींकी देखादेखी अन्य लोग भी वेदों शास्त्रों पर कलङ्क लगाते हैं।

आप जो यह लिखते हैं कि राजारन्तिदेव ब्राह्मणों के लिए प्रतिदिन हजार २ बैल मारते थे। उन के रक्त से चर्मण्यवती नदी निकल पड़ी तो क्या आप इसे मानते हैं? सभ्य होकर भी असम्भव बात मानने को तैयार! क्यों न हो, आप जो विना बाप के पुत्रोत्पत्ति मानते हैं तो इसे क्यों न मानियेगा? प्रथम तो ब्राह्मणों को मांसखाने का विधान कहीं है ही नहीं, यदि वह मांस खाय तो मनु के अनुसार राक्षस कहा जाय। इस लिए ब्राह्मणों के लिए पशुहत्या युक्तिसङ्गत नहीं। दूसरे चर्मण्यवती (चम्बल) अब भी विद्यमान है। यह तो विन्ध्याचलपर्वत से निकली है। इसे स्कूल का हर एक विद्यार्थी जानता है, फिर इसे कौन मान सकता है कि खून से चम्बलनदी निकलीहै? प्रत्यक्ष को देखते हुए परोक्ष कथाको कौन मान सकताहै? खून से भी कोई नदी निकलती है? आजकलभी हजारों पशु प्रतिदिन

मारे जाते हैं, परन्तु नदी तो एक भी नहीं निकलती। आजकल योरुपीय महायुद्ध में हज़ार तो क्या, कई हज़ार मनुष्य घोड़े इत्यादि प्रतिदिन कटते मरते हैं, परन्तु वहां से कोई भी नदी निकलते अभी तक न सुनागया। ऐसी बेतुकी अज्ञानताभरी बातें सिवाय अज्ञानियों के और कौन मान सकता है? वाममार्गियों ने अपने प्रमाण के लिए वेद शास्त्रविरुद्ध कहानियां बना कर पुराणों में मिला दी हैं। वास्तव में यह बात नहीं है।

दूसरी बात यह है कि आजकल भी ब्राह्मणनामधारी बहुत से लोग मांस खा रहे हैं, तो इस से क्या आप यह मान बैठेंगे कि वेद मांस खाने के लिए आज्ञा देता है? और पूर्व में ऋषि लोग खाते थे। इस लिए ये सब बातें अनर्गल शास्त्रविरुद्ध हैं।

ये सब काम राक्षसों पिशाचों का है-ब्राह्मण का नहीं। चाहे आश्वलायन सूत्र, चाहे कोई ब्राह्मण ग्रन्थ, चाहे कोई पुराण ही क्यों न हो, वेद विरुद्ध विषय उनमें के भी मान्य नहीं हो सकते। हां वेद में दिखलाते तो अवश्य माना जाता-पर वेद में है ही नहीं। दिखलाएगा कहां से?

मनुष्यों की प्रवृत्ति कौन रोक सकता है "भिन्नरुचिर्हि लोकः"। जो जैसा चाहता है बनाकर ऋषियों के नाम लिख देता है या उनके ग्रन्थों में घुसेड़ देता है। जब तुलसीकृत रामायण में सैकड़ों प्रक्षिप्त भाग स्पष्ट देखे जाते हैं तो चिरकाल की बनी पुस्तकों में मतलबियों ने प्रक्षेप न किया हो, इसका प्रमाण क्या?

वैद्यकशास्त्र और मांस।

वैद्यक ग्रन्थ भी प्रक्षेप से खाली नहीं। ऋषियों ने अनुभव तथा अपने योग बल से ऐसी २ ओषधियां खोज निकाली हैं कि जिन से असाध्य रोग भी अच्छा हो जाता है। दूसरी बात यह कि

वैद्यकशास्त्र शरीर सम्बन्धी है। यह सब के उपकार के लिए होना चाहिए। सब काल में सब तरह के लोग रहते हैं। वैद्यक का काम वस्तुओं के दोष गुण का बतलाना है वैद्यक धर्माधर्म का निर्णय नहीं करता। आपत्काल में बीमारी के समय तामसिक लोगों के लिए मांस विशेष लाभदायक हो सकता है। परन्तु यह विधिवाक्य नहीं कि सदैव पशु मार कर खाया करो। और ये सब भाग पीछे से मिलाए गए हैं। ऋषियों ने नहीं लिखा। आज कल के डाक्टर लोग भी मांस में बहुत अवगुण बतलाते हैं:—

(१) मनुष्य का स्वाभाविक भोजन शारीरिक बनावट के हिसाब से कन्द मूल फल फूल मालूम होता है (Beron Cuvier)

२) आमिष भोजन मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं (Lord Liyfaire M. S. C. B.)

(३) यह सत्य मानना चाहिए कि अच्छे प्रकार से संगृहीत किया हुआ फलाहार आमिषाहार से पोषणशक्ति में उतना ही अधिक प्रभाव रखता है जितना प्रमाण में अधिक होगा। मैं चाहता हूं कि शाकाहार वृत्ति का प्रचार हो। मेरा विश्वास है कि अवश्य होगा। Sir Benj. Word Rechardoon).

(४) रुधिर मांस चील सर्पादि के निमित्त है। मनुष्य के लिए वह अनावश्यक भोजन है (Lutarch)

(५) दुःखदाई जीवों को मारो जिनका रक्षा करना पाप है परन्तु अपनी प्राणरक्षा शाक और फलों से कर, रुधिर के पाप भरे हुए स्वादको छोड़ (Prythagoros) यूनानका बड़ा भारी विद्वान्।

मांस के अवगुण सुश्रुतभाष्य अ० ६ में उल्कनचार्य लिखते हैं।

मत्स्याम्लभोजिनः प्राच्याः नित्यंचानूपसेविनः।
श्लीपदा गलगण्डाश्च प्रायस्तेषु भवन्तिहि ॥१॥
निम्नतोयगतान्मत्स्यान्भक्षयन्ति समुद्रजान्।

प्रायशः कुष्ठिनस्तेन मनुष्याः दक्षिणाश्रिताः ॥२॥
मांसकामाः सुराकामाः स्त्रीकामाः साहसेरताः।
मागधास्तेन भूयिष्ठं दृश्यन्ते राजयक्ष्मणः ॥

पूर्व के रहने वाले मछली खटाई अधिक खाते हैं और अनूप में रहते हैं इस लिए उन्हें प्रायः फीलपांव और ग्लगण्ड के रोग अधिक होते हैं।

दक्षिण देश के रहने वाले समुद्र के समीपवर्त्ती मत्स्य खाते हैं इस लिए वे प्रायः कोढ़ग्रस्त हो जाते हैं।

मांस, मदिरा, स्त्री के अधिक सेवन से मागध लोग प्रायः राजयक्ष्मा के रोग से पीड़ित रहते हैं। इस प्रकार मांस के अवगुण चरक ने भी दिखलाए हैं। इस से स्पष्ट है कि शरीरस्वाथ्य का हानिकर होने से मांस सर्वथा त्याज्य है। यदि वैद्यक में बीमारी विशेष के लिए मांस का गुण लिखा हो तो इस का यह मतलब नहीं कि प्रति दिन उसे मारकर पेट को कब्र बनाओ। द्रव्य का गुणदोष बतलाना वैद्यक का काम है। परन्तु यह विधिवाक्य नहीं और ये मांस सम्बन्धी गुण ऋषियों के लिखे नहीं, किन्तु वामियों का प्रक्षेप है।

तन्त्र ग्रन्थ धर्मजिज्ञासा में मान्य नहीं। ये वाममार्गियों की पुस्तकें उन्हीं के लिए मुबारक रहें। मनुस्मृति का मांस प्रकरण प्रक्षिप्त है। पीछे लिख दिया है। धर्म जानने के लिए केवल वेद प्रमाण कोटि में लिए जावेंगे। दूसरे ग्रन्थ वेदानुकूल माने जाते हैं। अन्यथा नहीं मनु जीने स्वयं कहा है:—

समुत्पत्तिं च मांसस्य बधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥

अनुमन्ता निहन्ता विशसिता क्रयविक्रयी ॥
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

मांस की उत्पत्ति, प्राणियों का बध देखकर मांस को छोड़देना चाहिए बिना प्राणिबध किए मांस नहीं मिलता। चूंकि प्राणिवध से स्वर्ग नहीं मिलता इस लिए मांस न खावे।

अनुमति देनेवाला मारने वाला, खाल खींचने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, खरीदकर लाने वाला, खाने वाला, ये सब के सब पातकी कहे जाते हैं।

देखिए मनु जी के लेख से ही मांस खाना पाप है तो फिर मनु के अनुसार मांसभक्षण सिद्ध करना कितनी भारी भूल है एक ही ग्रन्थकार कहीं खाना लिखे, कहीं न खाना लिखे यह तो कभी हो नहीं सकता। यह तो पागलों का काम है। मैंने पीछे वेद से अनेक मन्त्र उद्धृत करके दिखला दिया है तथापि यहां पर भी दो एक मन्त्र दिए देता हूं:—

यः पौरुषेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥

अर्थ—(यः यातुधानः) जो पीड़ा देने वाला राक्षस (पौरुषेणक्रविषा) मनुष्य के मांस से (अश्व्येन) अश्व के मांस से (पशुना) अन्य अजा आदि पशुओं के मांस से (समङ्क्ते) अपना पोषण करता है और (यः) जो (अघ्न्यायाः) न मरने योग्य गौ के (क्षीरम्) दूध को (भरति) हरण करता है। अर्थात् किसी

तरह से उस का लोप संसार से करता है (अग्ने) हे परम-तमन् ! (तेषां) उन दुष्टों के (शीर्षाणि) मस्तक को (हरसा) अस्त्र से (वृश्च) छेदनकर !

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयञ्च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥

अर्थ—(ये) जो मनुष्य (आमं मांसं) कच्चे मांस को (अदन्ति) खाते हैं (पौरुषेयंच) और जो मनुष्य के पकाये हुये मांस को खाते हैं (ये) जो (क्रविः) आंतो को जो (गर्भान्) अण्डों को (खादन्ति) खाते हैं (तम्) उन केशवाः बुरे बालों वाले पिशाच रूप दुष्टों का हे परमेश्वर (इतः) यहां से (नाशयामसि) अदर्शित कीजिये ।

इन वेद प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि मनुष्य को मांस न खाना चाहिए । तब मनुष्यस्मृति का मांसप्रकरण भी प्रक्षित सिद्ध हुआ । " वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति " यह वहीं पर चरितार्थ होता है । अर्थात् जङ्गली बाघ, शेर, चीता, भूक इत्यदि हिंस्रक पशुओं को अवश्य हनन करना चाहिए क्योंकि इन में से एक को मारने से हजारों प्राणियों को सुख होता है राजा डाकुओं खूनियों चोरों को दण्ड देने से पातकी नहीं हो सकता क्योंकि एक के नाश से लाखों प्राणी आनन्द से रहते हैं । जहां २ पर वेदों में इनको हनन करने की आज्ञा है वहीं पर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" चरितार्थ होता है अन्यत्र नहीं-

न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्ति रेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥

यदि मांस खाने में दोष नहीं तो कुत्ते, बिल्ली और गदहे का मांस क्यों नहीं खाते? मैथुन में दोष नहीं, तो माता, भगिनी के साथ मैथुन में क्यों दोष समझा जाता है? प्रवृत्ति का अर्थ स्वभाव कीजिएगा तो फिर सब लोगों को मांसाहारी होना चाहिए, परन्तु सब लोग मांस नहीं खाते। स्वभाव नित्य है. यदि प्रवृत्ति का अर्थ इच्छा करते हैं तो फिर दुःख आना दुर्निवार्य्य है क्योंकि इच्छा का पूर्ण न होना ही तो दुःख है. जब दुःख हुआ तो दोष अवश्य हुआ। इस लिए मांसविषयक यह प्रकरण का प्रकरण ही प्रक्षिप्त है।

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्पमासीन महंयेत्प्रथमं गवा॥

॥ मनुः॥

गुरुकुल से वेदाध्ययन करके जब ब्रह्मचारी आवे तब के लिए मनु भगवान की उक्त व्यवस्था है।

अर्थः—स्वधर्मख्यात पिता से ब्रह्मदायहारी माला पहिने हुए आसन पर बैठे हुए उस ब्रह्मचारी को पिता पहले "गोसाधन मधुपर्क" द्वारा पूजित करे। यहां पर कुल्लूकभट्टने गोसाधन मधुपर्क से पूजा करने का अर्थ किया है। इस पर मास्टर साहब कहते हैं कि यहां गो शब्द से गौ का मांस लेना चाहिए। समीक्षा—यदि आप को यह मालूम होता कि ब्रह्मचर्य्य स्थिति में ब्रह्मचारी का आहार विहार कैसा होता है तो आप को उक्त शंका न होती। परन्तु हठ के आगे सत्य छिप जाता है। जिस ने २५ वर्ष तक मांस को स्पर्श-तक भी न किया जिसे लड़कपन से अहिंसा धर्म की शिक्षा दीगई। उसके लिए मांस खाना कैसा? आज जिन बच्चों को लड़कपन से मांस खाने का अभ्यास नहीं हुआ जो अहिंसकों के मध्य में रहते हैं उनको मांस आप खिला तो दीजिए। यह बात कदापि नहीं हो सकती। इस लिए यहां पर गवा शब्द से गौ से उत्पन्न घी दूध से

तात्पर्य्य है और यही शास्त्र वेद सम्मत है। आज कल भी वैसा ही होता है प्रत्यक्ष के विरुद्ध अनुमान करना मूर्खता नहीं तो क्या है? आप जहां गाय शब्द आगया वहां पर तुरन्त गोमांस धर घसीटते हैं। यदि पूर्वकाल में गोमांस खाते रहते तो अब तक भी हिन्दू खाते होते। परन्तु पूर्व में यह बात न थी। तब अब कहां से होवे।

पूर्वापर देखकर संस्कृत शास्त्रों का अर्थ किया जाता है आप ही सरीखे अर्थ करने वाले २। ४ मिल जांय तब तो आप लोग सब अर्थ ही उलट पलट कर डालेंगे। परन्तु कुशल है कि आप जैसे लोगों का हाथ इस में कम है। केवल शब्द पर से कूदना, पूर्वापर पर ध्यान न देने से आपभी बला में फंस जाइएगा। मत्ती रचित बाइबिल में लिखा है "मैं तुझे जल से बप्तिज्मा देता हूं परन्तु आगे एक ऐसा आवेगा जिसके पैर की जूती भी उठाने योग्य मैं नहीं हूं वह पवित्रात्मा और आगे से बप्तिज्मा देगा" यहां पर आग का अर्थ क्या पानी करिएगा? ईश्र आया भी। लोगों का पानी से बप्तिज्मा किया और अब भी वैसा ही होता है। तब आपके बाइबिल की बात गलत ठहरी या सही? यदि ईशू पवित्रात्मा से बप्तिज्मा करता था तो योहन क्या अपवित्रात्मा से करता था? यहां पर आप लोग मन माना अर्थ बिना किसी प्रमाण वा तर्क के करते हैं यदि प्रमाण हो तो बतलाइए। हमने प्रमाण तथा तर्कों से आप को दिखला दिया कि आप का सम्पूर्ण लेख अशुद्ध है। आर्यों के यहां शास्त्र से मांस खाना महापाप है।

—[*]—

सोमपान

मास्टर साहब के इस पर चार आक्षेप हैं:—

(१) नशीली होती है

(२) इस की इतनी प्रतिष्ठा बढ़ी कि लोगों ने अन्त में देवता ही मान लिया

(३) चमड़े के बर्तन में सोम रखते थे

(४) स्वर्ग से श्येन इसे ले आया। परन्तु दूसरी जगह मूजवान नामक पहाड़ से, यह भूल है।

उत्तर

(१) आप वैद्यक उठा कर देखिए तब इस का गुण मालूम होगा। यह अनेक रोगों का नाशक है। इसके २४ भेद हैं। इस के सेवन से शरीर दृढता, आयुवृद्धि बलवृद्धि बुद्धि वृद्धि होती है। लोग नशीली इच्छा से इसे पान न करते थे नशीली ख्याल करना आप की भूल है। ऐसे तो भात दाल रोटी में भी नशा है। दिनभर भूखों रहने पर सायंकाल में अन्न ही खाने से नशासा मालूम होने लगता है।

(२) आप ने देवता का अर्थ नहीं समझा। वेद के मन्त्रों में प्रतिपाद्य विषय ही का नाम देवता है। सोम ही क्यों, वेद में तो वृक्ष, उलूखल, मूसल, मत्स्य, दम्पती इत्यादि देवता माने गए हैं। परन्तु इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि ए जीवित व्यक्ति विशेष हैं- किन्तु मन्त्र में प्रतिपाद्य विषय होने से ये देवता हैं यह वेद की शैली है।

(३) चमड़े के बर्तन में सोम रखा जाता था ऐसा लिखना आप की भूल है। स्रक् और चमू का अर्थ क्या चमड़े का कुप्पा है। सोमधरने के पात्र सोने वा चांदी के होते थे चमड़े के नहीं—

यथा—अंशुमन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिषुणुयात् चन्द्रमसं राजते इत्यादि—चरक०

(४ गरुडाहृत तथा श्वेताक्ष ये शुभ्रवर्ण के सोम होते हैं ये सर्प की कचुंकी के समान वृक्ष की डालियों में लटके रहते हैं तथा अनेक प्रकार के चित्र विचित्र मण्डल वाले होते हैं । ये हिमालय अर्बली, सह्याद्रि मलयाद्रिचल, मलयागिरि श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसह पारियात्र विन्ध्याचल, देवसुन्दसरोवर, व्यास के उत्तरस्थ पांच पर्वतों पर, चन्द्रनामक सोम उत्पन्न होता है। इन्हीं के समीप अंशुमान् युंजमान सोम पैदा होते हैं। काश्मीर के दिव्य नामक छोटे मानसरोवर में गायत्र, त्रैष्टुभ पांक्त, जागत, शाङ्कर तथा अन्य सोम भी पैदा होते हैं। सोम को श्येन पक्षी स्वर्ग से ले आया यह भ्रम मूलक हैं। तैतिरीय ब्रा० । २-१

तृतीयस्यामितोदिविसोम आसीत। तं गायत्र्याहरत् । तस्यपर्णमाच्छिद्यत । तत्पर्णोऽभवत् । तत्पर्णस्य पर्णत्वम् । ब्रह्म वै पर्णम् ...।... गायत्रो वैपर्णः । गायत्र्या पशवः । तैत्तिरीय ब्रा० २ । १

तृतीयस्यां दिवि अर्थात् त्रिविष्टप (तिब्बत में) सोम था उसे गायत्री लेआई । गायत्री से लाए हुए सोम तथा अन्य सब ओषधियां पशुसंबंधक होती हैं । गायत्री नामक खैर का है ॥

यथा:खदिरोरक्तसारश्चगायत्री दन्तधावनःभा०प्र०

सोमादि महौषधियों को खोदने वाले अस्त्र का नाम अभ्रिः है। " अभ्रिस्तीक्ष्णमुखाज्ञेया। खादिरा ऽरत्निसम्मिता " अर्थात् अभ्रि पैने मुख खैर की लकड़ी, की अरत्नि (बद्धमुष्टिकर) प्रमाणलम्बी होती है।

खदिरेण ह सोममाचखाद। तस्मात्खदिरोयदेनेनाखिदत् ।

खैर के योग से सोम खावे अर्थात् खैर की लकड़ी से खोदकर ले आवे तब खावे । खदिर इस लिए कहते हैं कि इस से खनन किया जाता है ॥ श० ब्रा० कां० ३ । ६ । २ । १२

शार्ङ्गधर में लिखा। उत्तराभिमुखो भूत्वाखनेत् खदिरशंकुना अर्थात् उत्तर मुख करके खैर की लकड़ी से भेषज को खोदे।

तात्पर्य्य यह निकला कि खैर केशंकुसे लाई हुई औषधियां गायत्र्य वा पशु कहलाती हैं। इस लिए सोम का नाम गायत्र्य है। श्येन भी इसी गायत्री के स्थान में प्रयुक्त हुआ है पक्षी का नाम भी श्येन है। जो सोमवृक्ष पर लटका रहता है उस को गरुड़ वा श्येन तोड़ कर ले जाया करते हैं। इसी से सोम का नाम गरुड़हृत तथा श्येनहृत पड़ गया क्योंकि वृक्षों पर सोमलताएं (गरुड़हृत) लटकी रहती हैं इसलिए उनकी स्थिति आकाश में भी सिद्ध होगई। और बात भी यही है। तिब्बत हिमालय की तराई में बसा है और सोमोत्पत्ति का स्थान हिमालय बतलाया गया है। इस लिए आप के दोनों लेखों की संगति लग गई। अर्थात् एक जगह श्येन से आया। दूसरी जगह पहाड़ पर से लाई गई। इस वर्णन में कोई असङ्गति नहीं स्थान भेद से दोनों ठीक हैं। केवल भली भांति न पढ़ने से यह भ्रम हो गया है शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण में इसी को आलङ्कारिक भाषा में वर्णन किया है। इसे तो आपने भी स्वीकार किया है॥

× गन्धर्व देश भी तिब्बत का नाम है। महाभारत पढ़ने से यह स्पष्ट मालूम होता है। वाग्देवी का नाम गायत्री है॥

यहां पर यह बतला देना आवश्यक है कि सोम नाम चन्द्रमा का है अन्य सौम्यगुण वाले पदार्थों का भी सोमनाम है। जैसा प्रकरण हो वहां वैसा ही अर्थ करना चाहिए। इससे अर्थ में कभी भेद न पड़ेगा।

सुरापान के लिए शास्त्रों में कहीं भी आज्ञा नहीं। मनु जी ने सुरा पीने वाले को महापातकी बतलाया है।

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः।
महान्तिपातकान्याहुः संसर्गश्चापितैः सह॥

ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरू की स्त्री के साथ भोग करना। तथा उन के साथ सहवास, ये पांच महापातक हैं। तै० ब्रा० १। ३। ३ में लिखा है॥

(रक्तशोधक) बलामृतशर्बत

४० वर्ष का अज़माया हुआ एक महात्मा का बताया हुआ आतशक से या और अनेक कारणों से कैसा ही नया या पुराना खून बिगड़ा हुवा हो जो कि किसी दवाई से आराम न होता हो, जो रोगी निराश हो गये हों उन को मैं सचाई के डङ्के की चोट से कहता हूं कि वह निःशङ्क आज़मा लें। वृक्ष के पत्ते तोड़ने से पेड़ का नाश नहीं होता, उस को मूल जड़ से उखेड़ना चाहिये। श्री धन्वन्तरि महर्षि कहते हैं कि अशुद्ध रक्त से ही सब रोग पैदा होते हैं। रक्त की शुद्धता से दीर्घ जीवन अरोगता प्राप्त होती है और कोई रोग पास नहीं आता, इस वास्ते खून को साफ़ रखना अत्यन्त आवश्यक है। खून साफ़ करने के वास्ते बलामृतशर्बत से बढ़ कर कोई औषधि नहीं है। इस को हर एक ऋतु में बूढ़ा जवान बच्चे नरनारी सब पी सकते हैं। यह खून को साफ़ करता है तथा बल को बढ़ाता है। काले दाग़ लाल चकत्ते चेहरे की बदसूरती घाव बेचैनी जोड़ों का दर्द आंखों में गरमी या लाली खुजली फोड़े बदहज़मी उलझ को दूर करता है। क़ीमत ३२ खुराक १६ दिन के वास्ते १॥)रु० डा० खर्च जुदा होगा॥

पता—मैनेजर (एस. बी. के.)
सेवक औषधालय लाहौर